

You deserve the best...

I
A
S



P
C
S

Committed to Excellence

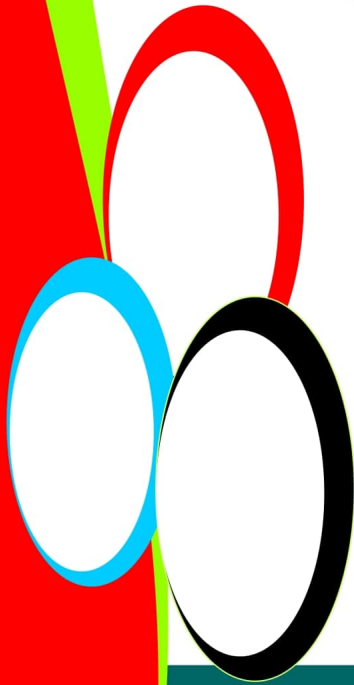
M.D.:Niraj Singh ISO 9001 Certified



IAS/ PCS एवं अन्य प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी

BOOK REVIEW

(Feb. - Dec. 2016)



 : 011-27658013, 7042772062/63

H.O. : 705, IInd Floor, Main Road, Mukherjee Nagar, Delhi-09 !! Class Venue : Vardhman Plaza, Nehru Vihar

 <http://www.gsworldias.com>  <http://www.facebook.com/gsworld1>  gsworldias@gmail.com

9654349902

You deserve the best...

I
A
S



P
C
S

Committed to Excellence

IAS-2016 में चयनित GS World के छात्रों को हार्दिक शुभकामनाएं...



Ganga Singh
(Roll No. 0078265)

Rank 33rd



Hemant Sati
(Roll No. 0441143)

Rank 88th



Dhawal Jaiswal
(Roll No. 0807519)

Rank 445th



Ashutosh Kr. Rai
(Roll No. 0576755)

Rank 500th

And Many More...

INDEX

• वर्ल्ड आर्डर	हेनरी किसिंजर	1
• नेहरू एंड बोस....	रुद्रांशु मुखर्जी	4
• द पाकिस्तान...	क्रिस्टोफ जेफ्रलो	7
• लैटर्स फॉर ए...		10
• पाकिस्तान बि...	हुसैन हक्कानी	13
• द् फीनिक्स...	प्रफुल्ल बिदवई	17
• द् चायना-पाकिस्तान...	एंड्रयू स्माल	22
• व्हाय इंडिया इज नॉट...	भरत कर्नाड	26
• वन इस्लाम...	रेमंड बिलियम बेकर	30
• द् स्टेट ऑफ दि...	फाली एस. नारीमन	34
• ए लाइफ इन...	महाराज कृष्ण रसगोत्र	38
• द् टर्न ऑफ द...	टी.एन.निनन	42
• वार बाँय अदर...	आर.डी.ब्लैकविल/जे.एम.हेरिस	47
• इंडिया ए सीक्रेड...	डायना एल. एक	51
• एशियाज कॉल्ड्रन...	राबर्ट डी. कापलान	56
• द् ग्रेट डिरेजमेंट...	अमिताव घोष	60
• द् साउथ एशिया...	स्टीफेन कोहेन	64
• द ऑशन ऑफ...	संजीव सान्याल	68
• विवा ला रिवाँल्यूसियोन...	एरिक हौब्सबौम	72
• डिमोक्रेट्स एंड...	रामचंद्र गुहा	76
• सेकूलरिज़्म...	माधव गोडबोले	80
• 1991 : हाऊ पी.वी...	संजय बारू	84

DELHI CENTRE

705, 2nd Floor, Main Road,
Mukherjee Nagar, Delhi-110009
Ph.: 011-27658013, 7042772062/63

ALLAHABAD CENTRE

GS World House, Stainly Road,
Near Traffic Choraha, Allahabad
Ph.: 0532-2266079, 8726027579

LUCKNOW CENTRE

A-7, Sector-J, Puraniya Chauraha
Aliganj, Lucknow
Ph.: 0522-4003197, 8756450894

JAIPUR CENTRE

Hindaun Heights 57, Shri Gopal Ngr,
Near Mahesh Ngr Police Station,
Jaipur Ph.: 9610577789, 9680023570

<http://www.gsworldias.com> || <http://facebook.com/gsworld1> ||

9654349902

पुस्तक समीक्षा (Book Review)



पुष्पेश पन्त (JNU)

बीसवीं सदी में अंतर्राष्ट्रीय शक्ति समीकरणों को नाटकीय तरीके से बदल कर विश्व व्यवस्था को आमूल चूल संशोधित करने वाले राजनयिक के रूप में

हेनरी किस्सिंजर का नाम अविस्मरणीय है। 1930 के दशक में प्रताड़ित यहूदी शरणार्थी के रूप में अमेरिका पहुंचे किस्सिंजर ने अपनी प्रतिभा के बलबूते पर बहुत तेजी से उन्नति की। मशहूर हॉवर्ड विश्वविद्यालय में अध्यापन करते वह तत्कालीन राष्ट्रपति निक्सन की नजरों में चढ़े- फॉरेन पॉलिसी में प्रकाशित अपने एक लेख की वजह से। फिर उनके सलाहकार बने, राष्ट्रीय रक्षा सलाहकार और फिर सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के पद पर आसीन रहे। यदि वे अमेरिका के जन्मजात नागरिक होते तो निश्चय ही राष्ट्रपति पद के दावेदार समझे जाते। किस्सिंजर की राजनयिक उपलब्धियों में विएतनाम युद्ध की समाप्ति और मध्यपूर्व में युद्ध विराम के अलावा चीन के साथ अमेरिका के रिश्तों में सुधार और रूस के साथ शीत युद्ध कालीन विस्फोटक तनाव को घटाना शामिल हैं। उन्हें नोबेल पुरस्कार से नवाजा जा चुका है। सुपर मैन सरीखे इस बौद्धिक-राजनयिक को 'सुपर के' कहा जाता रहा है।

इस सबके साथ यह जोड़ना जरूरी है कि किस्सिंजर के आलोचकों की कभी कमी नहीं रही है। उन्हें मौकापरस्त, बेहद महत्वाकांक्षी, और अनेतिक, अति यथार्थवादी समझने वाले इस ओर इशारा करते हैं कि आत्म-प्रशंसा और प्रचार में असाधारण महारत रखने वाले किस्सिंजर ने अपनी असफलताओं को भी अभूतपूर्व उपलब्धियां बना डाला। इसका सबसे अच्छा उदाहरण विएतनाम में शांति की पुनर्स्थापना का दावा है। किस्सिंजर के साथ ही उत्तरी विएतनामी प्रतिनिधि को भी नोबेल पुरस्कार दिया गया था जिसे यह कहते

‘वर्ल्ड ऑर्डर’

हेनरी किस्सिंजर

उन्होंने अस्वीकार कर दिया था कि पेरिस वार्ता के बाद भी युद्ध विराम नहीं हो सका था-लडाई जारी थी। मध्यपूर्व में भी अनवर सादात की भूमिका को अनदेखा करना कठिन है जिसके बिना किस्सिंजर कुछ नहीं कर सकते थे। जहां तक चीन का सवाल है बदले हालात में अमेरिका ने लगभग समर्पण की मुद्रा अख्तियार कर ली थी। सो इसे भी पराक्रमी राजनय नहीं कहा जा सकता। बांग्लादेश मुक्ति संग्राम के दौरान किस्सिंजर का रवैया भारत विरोधी और पाकिस्तान के पक्ष में भयादोहन वाला था और उनको खलनायक ही समझा जाता रहा है।

आज लगभग आधा सदी बाद पूर्वाग्रह और तात्कालिक भावावेश से मुक्त होकर किस्सिंजर का तटस्थ मूल्यांकन संभव है। मगर इस वक्त हमारी प्राथमिकता यह नहीं। वाटरगेट घोटाले के बाद निक्सन को इस्तीफा देना पडा और उनके प्रमुख सलाहकार हेनरी किस्सिंजर का राजनयिक जीवन भी अस्त हो गया। वह वापस विश्वविद्यालय में अध्यापन, लेखन और सलाहकार परामर्शदाता की भूमिका निभाने में जुट गए। अपने संस्मरणों के अतिरिक्त चीन और समकालीन अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर अनेक सागरभित और विचारोत्तेजक किताबें अवकाश ग्रहण करने के बाद वह लिख चुके हैं। सभी काफी चर्चित रही हैं। इस श्रृंखला में सबसे ताजा पुस्तक वर्ल्ड ऑर्डर (विश्व-व्यवस्था) है।

जो बात सबसे पहले उल्लेखनीय है वह यह कि इस पुस्तक में किस्सिंजर का वही सोच प्रतिबिंबित होती दीखती है जिसके दर्शन पहले पहल उनकी पहली पुस्तक (जो उनके पीएचडी पर आधारित थी) में हुए थे। भले ही किस्सिंजर ने नाम अमेरिकी राजनयिक के रूप में कमाया हो लेकिन उनका विश्व दर्शन



Henry
Kissinger
World
Order

19वीं सदी के पहले चरण के मशहूर राजनयिक मैटर्निख को आदर्श मानता है। मैटर्निख के मंच पर प्रकट होने से पहले फ्रांसीसी क्रांति की रक्त रंजित उथल पुथल के बाद नेपोलियन के उदय और उसके साम्राज्य की स्थापना और विघटन ने यूरोप को अराजकता की कगार तक पहुंचा दिया था। पुरानी व्यवस्था को पुनर्स्थापित कर शांति, सुव्यवस्था को लौटाने के इस उद्यम को किस्सिंजर ने 'ए वर्ल्ड रेस्टोर्ड' शीर्षक दिया था। उनके खुद के राजनय की प्रेरणा भी 'विश्व व्यवस्था' को स्थिरता प्रदान करने के मकसद से संचालित होती रही थी। अर्थात्, किस्सिंजर क्रांतिकारी बदलाव के विरोधी और पारंपरिक शक्ति संतुलन के प्रबल समर्थक रहे हैं।

उनकी शिक्षा-दीक्षा जिस यूरोपीय माहौल में हुई उसमें **वैस्टफ़ीलिया की संधि** के बाद राष्ट्र राज्य का उदय और उसके बाद के दो सौ साल में शक्ति संतुलन की अवधारणा के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का संचालन ही सबसे महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। इसे विडंबना ही कहा जा सकता है कि जो किस्सिंजर 20वीं सदी के तीसरे चरण में विश्व व्यवस्था का कायाकल्प करने वाले समझे जाते हैं- दुनिया को 21वीं सदी के लिए तैयार करने वाले वह वास्तव में 19वीं सदी के पूर्वाद्ध के विश्वदर्शन से कभी मुक्त नहीं हो सके। उनके लिए दोनो महायुद्ध, आधा दर्जन साम्यवादी क्रांतियां और अनेक स्वाधीनता संग्राम आज भी विश्व व्यवस्था के लिए वह अहमियत नहीं रखते जो दो सौ साल पुराना यूरोपीय शक्ति संतुलन का कंकाल रखता है!

परंतु किसिंजर की इस पुस्तक पर विस्तृत टिप्पणी के पहले कुछ और पुस्तकों का जिक्र जरूरी है जिसमें इसी विषय का गंभीरता से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है। इनमें सैम्युअल हंटिंगटन की 'क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन', पॉल कैनेडी की 'राइज एंड फॉल ऑफ ग्रेट पावर्स' तथा फ्रांसिस फुकुयामा की 'एंड ऑफ हिस्ट्री' मुख्य हैं।

इन सभी पुस्तकों में एक साम्य है। इन सभी के लेखक साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की समाप्ति के दशकों बाद भी पश्चिम यूरोपीय-अमेरिकी आधिपत्य वाली विश्व व्यवस्था को ही बेहिचक सर्वश्रेष्ठ समझते हैं और यह आधिपत्य मात्र राजनैतिक प्रणाली या पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के संदर्भ में ही नहीं बौद्धिक क्षेत्र में, नैतिक मूल्यों और आदर्शों के संदर्भ में भी निर्विवाद रूप से प्रतिष्ठित करने का प्रयास इनमें किया गया है। भले ही दिखाने को कैनेडी सहस्राब्दियों की पृष्ठभूमि पेश करते हैं पर वास्तव में उनका फोकस वैस्टफीलिया व्यवस्था पर आधारित यूरोपियन राष्ट्र राज्यों के करीब तीन सौ साल के ऐतिहासिक अनुभव का ही निचोड़ है। इसी तरह हंटिंगटन बड़ी असानी से दुनिया की प्रमुख सभ्यताओं का विशद विश्लेषण करते वक्त भारतीय उपमहाद्वीप की हिंदू-बौद्ध सभ्यता और सांस्कृतिक विरासत की अनदेखी करते रहते हैं। फुकुयामा के लिए सोवियत संघ के पतन के साथ साम्यवाद की निर्णायक हार हो चुकी है और पूंजीवादी व्यवस्था और इससे पोषित पश्चिमी जनतंत्र ही अनुकरणीय हैं इसी के आधार पर वह ऐलान करते हैं कि विचारधाराओं के द्वंद्ववाले 'प्रगतिशील इतिहास' का अंत हो चुका है। यहां इन सभी पुस्तकों पर विस्तार से अलग अलग टिप्पणी करना असंभव है पर यह रेखांकित करना जरूरी है कि विश्व व्यवस्था को सुस्थिर और शांति को बेकरार रखने के लिए 'नवजागरण' वाले-आज पुराने पड़ चुके- सोच और विश्व दर्शन पर ही नया मुलाम्मा चढाने का उद्यम साधते रहे हैं। इन चिंतकों ने नव प्रतिगामी दर्शन को ही मुखर किया है। किसी न किसी रूप में पारंपरिक शक्ति संतुलन का सिद्धांत किसिंजर की ही तरह इनके लिए नींव का

पत्थर है। कहीं न कहीं अमेरिकी वर्चस्व को विश्वव्यापी बनाने की महत्वाकांक्षा इस सैद्धांतिक प्रतिपादन के पीछे काम करती दिखलाई देती है। घुमा फिरा कर तकनीक के क्षेत्र में अग्रणी अमेरिका ही खस्ताहाल पर आक्रामक तेवरों वाले रूस और पस्त पड़े यूरोप तथा खूंखार कट्टरपंथी इस्लाम के मद्दे नजर नया शक्ति संतुलन और कल्याणकारी विश्व व्यवस्था के निर्माण के लिए समर्थ दिखता है।

यों 2015 में प्रकाशित इस पुस्तक में पिछले साल तक की सभी घटनाओं की जानकारी दर्शायी गई है- सीरियाई शरणार्थियों की समस्या, दक्षिणी चीन में चीनी विस्तारवाद के कारण जापान के साथ इसका मनमुटाव, रूस में पुतिन के जुझारू तेवर, यूक्रेन का संकट, इस्लामी खिलाफत वगैरह पर घुमा फिराकर किसिंजर बात को वहीं लौटा लाते हैं। विश्व व्यवस्था के संदर्भ में उनके अनुसार तीन प्रमुख धाराएं हैं। पहली यूरोपीय है जो मुख्यतः ईसाई धर्म के अनुयाइयों का प्रतिनिधित्व करती है और खुद को ईसा के आविर्भाव से पहले वाली क्लासिकी यूनानी सभ्यता और उसे पराजित करने वाले रोमनों का भी वारिस मानती है। किसिंजर की यूरोपीय इतिहास की पकड़ मजबूत है और उनका यह मानना गलत नहीं कि पवित्र रोमान साम्राज्य वाले युग में ही यूरोप की पहचान एकीकृत राजनैतिक इकाई के रूप में पहले पहल हो सकी थी। हालांकि इसके बाद अंधकार के युग में यूरोप के विघटन के बारे में वह चुप रहते हैं। इसीलिए सुकरात, अफलातून या अरस्तू की बनस्बत मेकियावली एवं हॉब्स का राजनैतिक दर्शन इस यथार्थवादी लेखक को प्रेरित करता है। दूसरी इस्लामी है जिसका प्रभुत्व कोई पन्द्रह सौ साल से अरब जगत/पश्चिमी एशिया में रहा है और अपने चरमोत्कर्ष में इसका फैलाव चीन की सरहद से लेकर स्पेन तक था। कुस्तुन्तुनिया (कौंसटैंटिनोपल/इस्ताम्बुल) बायजैंटियम साम्राज्य की राजधानी था और अमेरिकियों द्वारा सऊदी अरब के महिमामंडन के पहले इस्लामी सभ्यता का केन्द्र समझा जाता था। यहां का शासक सुल्तान ही बाकी मुसलमान शासकों को फतवा पढ़ उनके

शासनाधिकार पर मुहर लगाता था। आज आइएसआइएस का खलीफा बगदादी इसीलिए खतरनाक चुनौती समझा जा रहा है क्योंकि वह ऐतिहासिक-पारंपरिक स्मृतियों को पुराने जख्म हरे करने की रणनीति अपना रहा है। यह बात सर्वविदित है कि ईसाई शासकों और मुसलमान सुल्तानों के बीच लड़े जाने वाले क्रूसेडों (धर्म युद्धों) का लंबा इतिहास है। तीसरी व्यवस्था चीनियों की है जो हजारों साल से अपने को सभ्य संस्कृति तथा शोष दुनिया को बर्बर, असभ्य मानते रहे हैं। कन्फ्यूशियस की शिक्षाओं पर आधारित यह व्यवस्था बाइबल या कुरान शरीफ पर आधारित चिंतन से बिल्कुल अलग है। यह अंतर मात्र धार्मिक आस्था-विश्वास तक सीमित नहीं। भाषा, लिपि, वैकल्पिक तकनीकी के विकास की लंबी परंपरा का नतीजा है। नस्ल जनित भेदभाव का उल्लेख भी परमावश्यक है। चीनी ब्रह्मांड में जापान, मंगोलिया, कोरिया और दक्षिण पूर्व एशिया के वियतनाम जैसे देश शामिल किए जाते हैं दक्षिण एशिया के राज्यों के कुछ उत्तरी सीमावर्ती भाग भी। चीनी विश्व व्यवस्था के बारे में किसिंजर के निष्कर्ष सरलीकरणों और व्यापक सामान्यीकरण पर आधारित हैं। चीनी सभ्यता की प्रमुख विशेषता अपनी संस्कृति को बर्बर विदेशियों के संपर्क के प्रदूषण से बचानी की बेचैनी है। ना लांघी जा सकने वाले दीवार का निर्माण इसीलिए किया गया था। 19वीं सदी तक चीन के लिए यह संभव था कि वह एकांत वासी बना रहे और किसी विदेशी ताकत के लिए भी तटवर्ती इलाकों को छोड़ चीन के मर्मस्थल तक पहुंचना बेहद दुष्कर था- उसके खिलाफ सैनिक अभियान तो बहुत दूर की बात है। जिस बात की ओर हम पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं कि 'चीनी विश्व व्यवस्था' का असर आधुनिक ही नहीं प्राचीन तथा मध्ययुगीन अंतर्राष्ट्रीय संबंधों पर महसूस नहीं होता। न ही ईसाईयत के साथ क्रूसेड जैसे सांस्कृतिक संघर्ष का उदाहरण दर्शाया जा सकता है।

जिस बात की कमी किसिंजर की प्रकांड विद्वत्ता में खटकती है वह औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के दौर में यूरोपीय ताकतों के टकराव से निर्मित विश्व व्यवस्था के प्रभाव और विश्व युद्धों के बावजूद उसी व्यवस्था को कमोबेश बरकरार रखने के अमेरिकी हठ के

साक्षात्कार से कतराने से जुड़ी है। आज की चुनौतियों को 19वीं सदी के शक्ति संतुलन या बड़ी शक्तियों के उत्थान पतन की गाथा के दोहराव के रूप में समझना-समझाना कम से कम हमें तर्क संगत नहीं लगता।

चीन दुनिया की सबसे बड़ी आबादी वाला देश है और इसका भौगोलिक विस्तार भी कम नहीं। भारत दूसरी सबसे बड़ी आबादी वाला देश है और विभाजन के बाद भी पाकिस्तान या बांग्लादेश, हिंदुस्तानी सांस्कृतिक परिवार का ही हिस्सा हैं। अतः भारतीय सभ्यता को इस्लामी जगत से अलग-थलग करना कठिन है। कहने का अभिप्राय यह है कि दक्षिण एशिया को विश्व व्यवस्था की चर्चा करते समय यूरोपीय, इस्लामी या चीनी विश्व व्यवस्था से अनुशासित-प्रभावित नहीं समझा जा सकता। यह सवाल सिर्फ ऐतिहासिक महत्व का नहीं, जिस विश्व व्यवस्था को हम आज साकार होते देख रहे हैं उससे सबसे ज्यादा प्रभावित हम ही होंगे। हमें हाशिए पर रख किसी नई विश्व व्यवस्था की रूपरेखा तैयार करना मतिमंदता ही होगी। यही बात रूस के संदर्भ में भी कही जा सकती है। रूस की पहचान यूरोप की पारंपरिक पहचान से बहुत फर्क है। साम्यवादी क्रांति के पहले वहां की बहुसंख्यक आबादी ईसाई जरूर थी पर यह ईसाईयत पश्चिमी यूरोप के रोमन कैथोलिक या प्रोटेस्टैंटों के विविध संप्रदायों से बहुत भिन्न थी/है। रूस को यूरोप की बड़ी ताकतों में शामिल किया जाता रहा पर केन्द्रीय शक्ति संतुलन के चंचल समीकरणों में उसकी उपेक्षा ही होती रहती थी। रूस का भौगोलिक विस्तार दुनिया के किसी भी देश से ज्यादा बड़ा है। सोवियत संघ के टूटने के पहले दुनिया के कुल भूभाग का 1/6 भाग इसकी मिल्कियत था। साइबेरिया से यूराल पर्वतों तक फैले रूस की पहचान यूरोशियाई रही है। शासक वर्ग और कुलीन दरबारी-जनरल-सामंतनुमा दैत्याकार जमीदार भले ही फ्रांसीसी बोलते रहे हों और खुद को यूरोप का ही हिस्सा मानते हों रूसी मानस ने इटली, फ्रांस या जर्मनी की तरह यूरोपीय विश्व व्यवस्था को बनाने में कोई खास भूमिका नहीं निभायी है। बोल्शेविक क्रांति के बाद जरूर लेनिन और

स्टालिन ने वैकल्पिक क्रांतिकारी विश्व व्यवस्था की स्थापना की चेष्टा की थी पर द्वितीय विश्वयुद्ध के विस्फोट ने इसे साकार नहीं होने दिया। सोवियत संघ ने मित्र राष्ट्रों की मोर्चाबंदी में हाथ बंटया और युद्ध समाप्त होते ही शीत युद्ध के सूत्रपात ने सैनिक संधि संगठनों वाली पारंपरिक विश्व व्यवस्था की वापसी को सुनिश्चित कर दिया। मिखाइल गोर्बाचौव ने यह भ्रम पैदा किया कि पेरिस्ट्रोइका और ग्लासनोस्त के बाद रूस की अलग पहचान शेष नहीं रहेगी और वह यूरोप में सहर्ष अपना विलय स्वीकार कर लेगा। अन्य पूर्वी यूरोप के देशों की भांति। किसिंजर इस पेचीदा सवाल से नहीं उलझते कि क्यों ऐसा संभव नहीं हुआ और क्यों उग्र उत्कृष्ट रूसी राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित करने वाले पुतिन अपने को देशभक्त अधिनायक के रूप में प्रतिष्ठित करने में सफल हुए हैं और अमेरिका द्वारा प्रस्तावित विश्व व्यवस्था को जबर्दस्त चुनौती देने में समर्थ हुए हैं?

पुस्तक के पहले तीन अध्याय उसी यूरोपीय इतिहास का सार संक्षेप हैं जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। चौथा अध्याय अमेरिका के ईरान के साथ संबंधों के उतार चढ़ाव को अमेरिका के राष्ट्रहित की कसौटी पर तर्क संगत ठहराने की कोशिश भर है। पांचवे अध्याय में खानापूरी के तौर पर एशिया का बहुध्रुवीय स्वरूप स्वीकार किया गया है जहां जापान के साथ ही भारत को भी निबटा दिया गया है— इशारा साफ है इनकी अहमियत सिर्फ एशियाई व्यवस्था के लिए सार्थक है विश्व व्यवस्था के लिए नहीं! छठा अध्याय चीन को समर्पित है। सातवें अध्याय का शीर्षक ही अंदर का भेद खोल देता है— 'समस्त मानवजाति के हित में अमेरिका की भूमिका'। अगला अध्याय इसी तर्क को आगे बढ़ाता है और वस्तुनिष्ठ-तटस्थ दिखने के प्रयास में किसिंजर 'असमंजस में घिरी महाशक्ति अमेरिका' का उल्लेख करते हैं। नवें अध्याय का शीर्षक बहुत आशा जगाता है— 'तकनीकी की क्रांति और मानव चेतना' पर पूरा पढ जाने पर निराशा ही हाथ लगती है क्योंकि किसिंजर की घड़ी कि सूइयां 1970-80 वाले दशक से आगे सरकती ही नहीं। ज्यादा से ज्यादा कोशिश करने पर भी

वह रीगन के कार्यकाल में अमेरिका के सरोकारों के परे कुछ देख ही नहीं पाते। नाममात्र के लिए सूचना क्रांति और डिजिटल विदेशनीति तथा राजनय का सरसरी तौर पर जिक्र किया गया है पर विस्तार से बखान परमाणविक अप्रसार का ही मिलता है। अंतिम भाग में 'हमारे समय में विश्व व्यवस्था' पर चालीस पन्नों की संक्षिप्त टिप्पणी है जो यह सोचने को मजबूर करती है कि प्रकाशक ने जानबूझ कर पुस्तक का शीर्षक भ्रामक रखा है। विश्व व्यवस्था के बहाने या इसके नाम भर के सहारे गुजरे जमाने की अंतर्राष्ट्रीय 19वीं सदी के शक्ति संतुलन को आदर्श समझने वाली विश्व व्यवस्था का ही महिमामंडन मिलता है। एशिया के नवोदित राज्यों के बारे में जो सामग्री प्रस्तुत की गई है वह बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अमेरिका के ईरान, चीन तथा जापान, भारत आदि देशों के साथ विभिन्न अमेरिकी सरकारों के उभय पक्षीय रिश्तों का रोचक वर्णन भर है। अपने जीवन के आरंभ में किसिंजर ने अमेरिकी विदेश नीति पर एक छोटी किताब लिखी थी जिसका उपशीर्षक था 'एकांतवास तथा हस्तक्षेप के बीच'। जीवन संध्या में वही विषय उनके दिमाग पर हावी लगता है। अमेरिका की खुदगर्ज अति यथार्थवादी मौकापरस्त विदेशनीति को उसकी 'नियति' का जामा पहना गरिमामय बनाने में किसिंजर कामयाब नहीं हो सकते। शीतयुद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी संपन्न ताकतवर अमेरिका दुनियाभर में वंचितों, शोषितों, उत्पीड़ितों तथा गरीबों को अपना हमदर्द नहीं दुख दर्द का कारण ही नजर आता है। पूंजीवादी जनतंत्र को भूमंडलीकरण की व्यवस्था से पूरे विश्व में स्थापित करने वाली व्यवस्था का प्रतिरोध अभी जारी है।

परीक्षा के लिए अवश्य यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध हो सकती है अगर छात्र पहले से यूरोपीय तथा विश्व इतिहास की तथ्यात्मक जानकारी रखता हो और बृहत्तर परिप्रेक्ष्य में उनका विश्वव्यापी प्रभाव समझने का कोतूहल रखता हो। इसके अभाव में उसे यह दिलचस्प किस्सागोई भटका ही सकती है।

नेहरू एंड बोस: पैरलल लाइव्स

रुद्रांशु मुखर्जी



मणिकांत सिंह (व स्टडी)

अभ्यर्थियो! 'जी एस वर्ल्ड' की प्रतिबद्धता गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने की रही है। वर्तमान में सिविल सेवा परीक्षा की मांग लगभग पूरी तरह बदल चुकी है। अभ्यर्थियों को भी नई जरूरतों के अनुकूल अपने आपको तैयार रखने की जरूरत है। इसी बदलाव को ध्यान में रखते हुए 'जी०एस० वर्ल्ड' प्रबन्धन के द्वारा 'Thinking out of the box series' के तहत कई नवीन पहल की गई है। उनमें अद्यतन पहल है अभ्यर्थियों को महत्वपूर्ण पुस्तकों का रिव्यू मुहैया कराना।

अभ्यर्थियों को यह ज्ञात हो कि ज्ञान का एक और संसार है- वह है पुस्तकों का संसार। इस संसार में केवल बौद्धिक प्राणी रहते हैं। यहाँ राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वानों के साथ बौद्धिक संवाद स्थापित किया जाता है। प्रत्येक वर्ष कुछ स्तरीय पुस्तकों का प्रकाशन होता है। ये पुस्तकें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विषय पर विद्वानों की टिप्पणी प्रस्तुत करती हैं। कई बार इस प्रकार की पुस्तकें सिविल सेवा परीक्षा के प्रश्नों के स्वरूप पर भी अपना प्रभाव छोड़ती हैं, परंतु अभ्यर्थी सामान्यतः इस संसार से कटे हुए रहते हैं।

इस कमी को ध्यान रखते हुए प्रो० पुष्पेश पंत एवं मणिकांत सिंह के निर्देशन में पुस्तक समीक्षा की शृंखला आरम्भ की गई है। इसके अंतर्गत प्रत्येक वर्ष प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षा प्रस्तुत की जाएगी। इसका नियमित अध्ययन निश्चय ही अभ्यर्थियों में आलोचनात्मक सोच विकसित करेगा, उनके विश्लेषण की क्षमता को प्रोत्साहित करेगा तथा उनकी समझ को धारदार बनाएगा।

हाल के दिनों में हमारे देश में यह बहस बहुत गरम रही है कि यदि नेताजी सुभाष बोस आजादी के बाद जीवित रहते और प्रकट हो गए होते तो क्या आज के भारत का चित्र कुछ दूसरा होता? इसके साथ ही जुड़ा एक पेचिदा सवाल जो जनता को परेशान कर रहा है, - वह यह है कि क्या जानबूझकर जवाहरलाल नेहरू और उनके वंशजों ने नेताजी और उनकी विरासत के साथ अन्याय किया है। नेताजी के उत्तराधिकारियों ने यह आरोप लगाया है कि नेताजी के देहांत के साथ जुड़े दस्तावेजों वाली फाइलों को क्यों अब तक गोपनीय रखा गया है और क्यों इनमें से कुछ को नष्ट होने दिया गया?

वास्तव में असली बहस 'सनसनीखेज खुलासों' से कही अधिक गंभीर और बुनियादी सवालों से जुड़ी है। आजादी की लड़ाई के दौरान जब पंडित नेहरू और नेताजी दोनों ही जीवित थे तो इनकी तुलना निरंतर की जाती रही थी कभी घनिष्ठ मित्रों और सहयोगियों के रूप में तो कभी कट्टर प्रतिद्वंद्वियों और विपरीत वैचारिक ध्रुवों पर विराजमान शत्रु समान प्रतिस्पर्द्धियों के रूप में।

आजकल अक्सर यह चर्चा होती है कि मौजूदा भाजपाई नेतृत्व वाली सरकार

नेहरू की कल्पना के भारत को नष्ट करने में लगी है और इस कारण धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक-बहुलवादी संस्कृति के पोषक ऐसा मानने लगे हैं कि भारत की अवधारणा संकटग्रस्त है। अतः कुछ लोगों को लग रहा है कि नेहरू बनाम नेताजी वाली बहस को जानबूझकर गर्माया जाना एक रणनीति का हिस्सा है जिसका उद्देश्य धर्मनिरपेक्षता के तत्व को प्रोत्साहन देना है।

प्रसिद्ध इतिहासकार और वरिष्ठ पत्रकार, रुद्रांशु मुखर्जी, की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक 'नेहरू एण्ड बोस: पैरलल लाइव्स' इसी संदर्भ में बेहद महत्वपूर्ण समझी जानी चाहिए। पुस्तक मात्र 250 पन्नों की है पर इसमें जो सामग्री पेश की गई है वह भारत की आजादी की लड़ाई के एक निर्णायक दौर पर ही नहीं वरन् आज के भारत के सामने खड़ी चुनौतियों और उनके समाधान की हमारी क्षमता के बारे में रोचक विश्लेषण सुलभ कराती है। अब तक नेहरू और सुभाष बोस की प्रकाशित प्रामाणिक जीवनियों का निचोड़ तो यहां मिलता ही है बल्कि ऐसा भी लगता है कि नेहरू के प्रति अतिशय स्नेह के बावजूद लेखक ने नेताजी के साथ भी न्याय करने का पूरा प्रयास किया है।

यह बात सर्वविदित है कि 1920 और 1930 वाले दशक में नेहरू और बोस दोनों ही भारतीय नौजवानों के हृदय सम्राट थे। विलायत से लौटने के बाद इन दोनों के ही तेवर समाजवादी थे और दोनों ही औद्योगीकरण को दरिद्र भारत के कायाकल्प का सबसे बेहतर विकल्प समझते थे। इन दोनों की ही बहस महात्मा गांधी से लगातार इस बात को लेकर चलती रहती थी कि छोटे कुटीर उद्योगों को और ग्रामोन्मुखी आर्थिक विकास के आधार पर न तो भारत में समाज सुधार संभव है और नहीं आजादी के बाद उसकी तरक्की की कोई उम्मीद की जा सकती है। मजेदार बात यह है कि इन दशकों में नेहरू और सुभाष के बीच कोई वैचारिक मतभेद नजर नहीं आता। अगर सिद्धांतों और विचारधारा के आधार पर कोई टकराव था तो वह बापू के साथ था।

बापू ने जब हिन्द-स्वराज नामक पुस्तक लिखी थी तो उन्होंने अपना यह सोच बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति को वह महत्वपूर्ण नहीं समझते हैं और खासकर आधुनिक विज्ञान और टेक्नोलॉजी को निश्चय ही वह मनुष्य जाति के लिए कल्याणकारी नहीं मानते। गांधीजी का मूल संस्कार धार्मिक और आध्यात्मिक था। अपनी

आत्मकथा में उन्होंने यह बात स्पष्ट तौर पर स्वीकार की है कि सत्य की उनकी खोज की मूल प्रेरणा तथा ईश्वर तक पहुंचने का उनका जरिया था। चाहे वह तॉल्सतॉय हो या थोरो, इमर्सन या रोमिया रौला गांधी जी का सरोकार अराजक लगभग सभी रहस्यवादी आत्म केन्द्रित दार्शनिकों के साथ रहा था। दूसरी तरफ गांधीजी के बाद वाली पीढ़ी के प्रतिनिधि नेहरू और सुभाष यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थे कि धर्म, अन्धविश्वास और जड़ परम्परा के प्रति आस्था रखने वाला कोई व्यक्ति या समाज प्रगति कर सकता है।

इसी प्रकार की बहस महात्मा गांधी की गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ भी चलती रही थी। जब पूसा में भूकंप ने भयंकर तबाही का मंजर दिखाया तो गांधीजी ने इसे ईश्वर का प्रकोप कहा था। गुरुदेव को यह बात नागवार गुजरी थी और उन्होंने तभी महात्मा को यह बात भी याद दिलाई थी कि चरखा चलाने से कुछ खास हासिल होने वाला नहीं। इस बारे में नेहरू, सुभाष और रवीन्द्रनाथ ठाकुर एकमत थे कि आधुनिक वैज्ञानिक जगत से नाता तोड़कर भारत प्रगति नहीं कर सकता और ना ही समता पोषक समाज का गठन कर सकता है।

रुद्रांशु मुखर्जी की पुस्तक की अगर कोई कमजोरी है तो वह यह कि उन्होंने नेहरू और सुभाष का द्वंद्व तो दर्शाया है पर इन दोनों का जो विरोध गांधीजी के साथ था उसका सिर्फ उल्लेख भर किया है। एक समय था जब नेहरू या सुभाष इनमें से किसी एक को गांधीजी अपने राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप में चुन सकते थे। आज हम जानते हैं कि गांधी ने नेहरू को अपने राजनीतिक उत्तराधिकारी के रूप में चुना। सुभाष ही नहीं अनेक अन्य सुयोग्य पात्रों को भी गांधीजी ने खारिज कर दिया था। यही वह समय था जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का गठन हुआ था और आचार्य नरेन्द्र देव, राममनोहर लोहिया और जयप्रकाश नारायण जैसे लोग इस गुट के साथ जुड़े थे।

इस पुस्तक का सबसे रोचक हिस्सा वह है जिसमें लेखक ने 1930 के दशक के अंत में नेहरू और सुभाष के कांग्रेस के

अध्यक्ष के रूप में कार्यकाल का वर्णन किया है। 1935 में भारत सरकार अधिनियम पारित होने के बाद अनेक राज्यों में कांग्रेस की सरकारें गठित हुई थीं। जिस समय पहले नेहरू



RUDRANGSHU MUKHERJEE
**NEHRU
& BOSE**
Parallel Lives



और फिर सुभाष कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए उस समय यह उधेड़-बुन जारी थी कि आजादी के बाद भारत किस रास्ते पर चलेगा। मजेदार बात यह है कि इस समय नेहरू और सुभाष दोनों ही अपने व्यक्तिगत-पारिवारिक कारणों से काफी जटिल स्थिति का सामना कर रहे थे। कमला नेहरू यक्ष्मा से पीड़ित थी और सुभाष का प्रणय प्रसंग जर्मनी में एक युवती के साथ चल रहा था। 1937 और 1938 के वर्ष दोनों ही नेहरू और सुभाष के लिए व्यक्तिगत रूप से बेहद तनावपूर्ण थे। एक ओर कमला स्वटजरलैंड में एक सिनियोरियम में मृत्यु शैया पर थीं और दूसरी ओर सुभाष अपनी प्रेयसी पत्नी को यह आश्वासन दे रहे थे कि वह देशप्रेम के कारण अपने व्यक्तिगत जीवन को आजादी के संग्राम के ऊपर प्राथमिकता नहीं दे सकते। नेहरू के संबंध कमला नेहरू के साथ बहुत जटिल थे। दोनों ही जिन पारिवारिक परिवेश से आए थे वे बहुत भिन्न थे। नेहरू के लिए कमला के साथ सामान्य-वैवाहिक संबंध बनाना बड़ा असहज था।

नेहरू और सुभाष के बीच अनेक समानताएं होने के साथ-साथ कई बुनियादी अंतर्विरोध भी थे जो मैत्री और भाइचारे के दौर में सतह पर नहीं आए। जैसे-जैसे महात्मा गांधी का नेहरू के प्रति पक्षपात पूर्ण रवैया उजागर होने लगा सुभाष का ही नहीं दूसरे कांग्रेसी नेताओं को भी असंतोष हुआ भले ही वे इसे मुखर नहीं कर सके। चाहे राजेन्द्र प्रसाद हो या वल्लभ भाई पटेल नेहरू को सबसे आगे और सबसे ऊपर बैठाने की बापू की रणनीति ने स्वाभिमानी सुभाष को सबसे ज्यादा खिन्न कर दिया। इस बात का जबाब आज तक कठिन है कि क्यों गांधी ने नेहरू से अधिक वरिष्ठ अनुभवी और लगभग नेहरू के बराबर ही लोकप्रिय नेताओं की अनदेखी नेहरू के कारण की। जो आलोचक समकालीन भारत में वंशवादी जनतंत्र के कारण परेशान हैं। वे ऐसा मानते हैं कि गांधी को प्रभावित करने में मोतीलाल नेहरू का बहुत बड़ा हाथ था। 1926-27 से ही वे इस प्रयास में लगे थे कि उनके बाद उनके पुत्र को कांग्रेस का अध्यक्ष नामजद या निर्वाचित किया जा सके। यह बात तर्कसंगत नहीं लगती कि गांधी जैसा कुशल राजनेता और अनुभवी आन्दोलनकारी किसी दूसरे की बात पर आंख मूंदकर आचरण करने लगे। इसका वास्तविक कारण कुछ और था। बहुत वर्ष बाद गांधी ने एक बार कहा कि भले ही आज जवाहरलाल मेरा विरोध करता हो मेरे देहांत के बाद वह मेरी ही वाणी बोलेगा। हमारी राय में गांधी को यह नजर आने लगा था कि वह अपने स्नेह पाश में बंधे जवाहरलाल नेहरू पर दबाव डालकर अपने मन की बात करवा सकते हैं। पर शायद सुभाष जैसे हठी या पटेल जैसे दबंग व्यक्तित्व से मतभेद अधिक कठिन चुनौती पेश कर सकता था। शायद उनके सामने यह बात भी रही हो कि नेहरू का उपयोग कर वह अम्बेडकर और जिन्ना जैसे आलोचकों को और चोटी के पद के लिए दूसरे कांग्रेसी दावेदारों को हाशिए पर डाल सकते थे। इस तरह जवाहर लाल नेहरू एवं नेताजी के व्यक्तित्व में आने वाले अंतर तथा मोतीलाल नेहरू के प्रभाव ने गांधी के निर्णय को प्रभावित किया होगा।

दूसरा बुनियादी अन्तर जो नेहरू और सुभाष के बीच भारत की आजादी की लड़ाई के

संदर्भ में था वह उनके बीच सोच का था। वह था स्वाधीनता संग्राम को सिर्फ अहिंसक सत्याग्रह तक सीमित रखना। चौरी-चौरा की आगजनी के बाद सत्याग्रह वापस लेने से गरम खून वाले नौजवानों को असंतोष थी। भगत सिंह चन्द्रशेखर आजाद, अशफाकुल्लाह खान जैसे देश प्रेमी क्रांतिकारियों की तुलना में गांधी की अहिंसा बहुत हिन्दुस्तानियों को लाचार बूढ़े की कमजोर लाठी नजर आती थी। जिस समय गांधी ने अपने अहिंसक सत्याग्रह स्थगित कर रखा था अनेक देश प्रेमी क्रांतिकारियों ने बेहिचक हथियार उठाकर अंग्रेज हुक्मरानों का दिल दहला दिया था। काकोरी काण्ड, चिटगांव में सरकारी अमले की लूट और भगत सिंह द्वारा असेंबली में धमाका इसी के उदाहरण हैं। अनेक भारतवासी इस बात से भी क्षुब्ध थे कि भगत सिंह और उनके साथियों के प्राणों की रक्षा के लिए गांधी ने ब्रिटिश सरकार से कोई सिफारिश नहीं की। अपने अहिंसक हठ के कारण वे हमेशा हिंसा का विकल्प चुनने वाले देशभक्तों को अलग समझते थे। सुभाष शुरू से ही अपनी मातृभूमि को आजाद कराने के लिए हर साधन को जायज समझते थे। निश्चय ही गांधी के मन में इसको लेकर भी सुभाष के प्रति शक बना रहा होगा।

तीसरी बात जो जवाहरलाल और सुभाष के बीच में फर्क बताई जाती रही है वह यह है कि आम धारणा के अनुसार नेहरू का संस्कार जनतांत्रिक था और सुभाष का अधिनायकवादी। इस बात को बहुत आसानी से स्वीकार करना कठिन है। स्वयं नेहरू भी ज्यादा विरोध सहन नहीं कर पाते। आजादी के बाद के वर्षों में नेहरू की यह प्रवृत्ति अनेक बार उजागर होती रही। खासकर सरदार पटेल और उसके कुछ ही वर्ष बाद मौलाना आजाद के निधन के साथ कैबिनेट में उनके फैसलों को चुनौती देने वाला कोई कद्दावर नेता शेष नहीं रह गया। अगर यह बात फिलहाल बहस के लिए स्वीकार कर भी ली जाए कि नेहरू एक जनतांत्रिक व्यवस्था को लागू करने के लिए कटिबद्ध थे परन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उनमें इतना धैर्य नहीं था कि वे जनतंत्र के बीज को बोकर एवं सींचकर देश की माटी में पनपने तक का इंतजार कर पाते।

उनमें ऊपर से जनतंत्र आरोपित करने की बेहद उतावलापन था जिसके नतीजे देश को आजतक भुगतने पड़ रहे हैं।

नेहरू के लिए जनतंत्र का आदर्श रूप ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली था और अंग्रेजी परस्त नेहरू जनतंत्र के किसी दूसरे स्वरूप या मॉडल के बारे में सोच विचार के लिए तैयार नहीं थे। हां! 1920 वाले दशक के मध्य में सोवियत संघ की अपनी यात्राओं के बाद वे सोवियत प्रणाली से भी काफी प्रभावित हुए थे और शायद यहां यह जोड़ना गलत नहीं होगा कि सोवियत संघ में जनतांत्रिक केन्द्रीकरण (डेमोक्रेटिक सोशलिज्म) की प्रतिष्ठा उन्हें भारत के संदर्भ में रूचिकर लगी होगी। दूसरे शब्दों में, यह आकर्षण जनतांत्रिक नहीं अधिनायकवादी रूझान के कारण ही लगता है। मजेदार बात यह है कि जब नेहरू ने सोवियत संघ के नये प्रयोगों की भूरी-भूरी प्रशंसा की तब गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उन्हें इस बारे में सतर्क किया था कि स्टालिन कैसे समाजवादी जनतंत्र से भटककर व्यक्ति पूजक तानाशाही की ओर बढ़ रहा है।

बाद के वर्षों में जैसे यूरोप में नाजीवादी-फासीवादी तानाशाही प्रवृत्तियां चिंताजनक रूप से उभरने लगीं। नेहरू का फासीवाद विरोध मुखर होने लगा। पर सोवियत संघ के प्रति उनका मोहभंग स्टालिनवादी तानाशाही के बावजूद कभी नहीं हुआ। जहां तक केन्द्रीय नियोजन और पंचवर्षीय योजना को अपनाना है तो सुभाष और जवाहरलाल दोनों ही इस मामले में एकमत थे।

आज सुभाष पर यह आरोप लगाया जाता है कि सुभाष की प्रवृत्ति आरंभ से ही फासवादी-तानाशाही थी और इसी कारण वे नाजी जर्मनी, फासीवादी इटली और विस्तारवादी जापानी साम्राज्यवाद की तरफ झुके। 1930 के दशक के अंतिम वर्षों में जब यूरोप सर्वनाशक महायुद्ध के कगार तक पहुंच चुका था यह तय करना बड़ा कठिन था कि कौन बड़ी शक्ति भारत की आजादी की लड़ाई में उसकी मददगार साबित हो सकती है। एक ओर अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट यह दिखावा कर रहे थे कि वे ब्रिटिश सरकार पर

इस बात के लिए दबाव डाल रहे हैं कि वह भारत को यथाशीघ्र स्वतंत्र कर दे पर वास्तव में उनका असली मकसद कुछ और था।

1938 में हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन के अध्यक्ष सुभाष चुने गए। उन्हें सभा स्थल तक जिस रथ में ले जाया गया उसे बीस बैल खींच रहे थे जिन्हें एक बड़े जागीरदार हांक रहे थे। दर्शक भला इसे कैसे भूल सकते थे कि लाहौर अधिवेशन के अध्यक्ष नेहरू एक सफेद घोड़े पर सवार झंडा फहराने रावी के तट पर पधारे थे। यह भी याद रखने लायक है कि 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत देश के अनेक सूबों में कांग्रेस सरकारों का गठन हुआ था। अर्थात् जब सुभाष कांग्रेस के अध्यक्ष पद पर विराजमान थे तब औपनिवेशिक हुक्मरान सत्ता के हस्तांतरण की तैयारी कर रहे थे। हां, किसी को उस घड़ी इस बात का अंदेशा नहीं था कि महायुद्ध का विस्फोट आसन्न है और यह सारी व्यवस्था धरी की धरी रह जाएगी। सुभाष ने अपनी जिम्मेदारी को गंभीरता से लिया और आजादी के बाद भारत के राष्ट्रनिर्माण की रूपरेखा तैयार करने में विलंब नहीं किया। उन्होंने मेघनाद साहा जैसे वैज्ञानिकों से परामर्श ले कर स्वाधीन भारत को आत्मनिर्भर बनाने के लिए योजना की रूपरेखा तैयार करना शुरू कर दिया। यह रेखांकित करने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि आमतौर पर इस दूरदर्शिता का श्रेय नेहरू को दिया जाता है।

नेहरू इस समय यूरोप में थे। पत्नी की मृत्यु के बाद गहरे अवसाद से त्रस्त वे इस लंबे प्रवास से पूर्णतः स्वस्थ संतुलित हो कर स्वदेश लौटना चाहते थे। पर ऐसा सुझाव गलत होगा कि वह अपनी सार्वजनिक भूमिका से अवकाश पर थे। इंग्लैंड में वह एटली और स्टैफोर्ड क्रिप्स सरीखे अभिजात वर्ग के उन कुलीन नेताओं से संवाद जारी रखे थे जिनकी सहानुभूति भारत के साथ थी। अभी युद्ध के काले बादल क्षितिज पर नहीं घिरे थे। नेहरू की लेबर पार्टी के नेताओं के साथ बातचीत का मुद्दा यही था कि भारत को स्वशासित बनाने के लिए अलग संवैधानिक कदम क्या हो सकता है? तथा उसके बाद भारत में ब्रिटेन के सामरिक-आर्थिक हित कैसे सुरक्षित रखे जा सकते हैं?

किंतु दूसरी तरफ नेहरू एवं सुभाष के

बीच भी संवाद चल रहा था। नेहरू तथा सुभाष के बीच इन दो वर्षों का पत्राचार बड़ा रोचक है। यूरोप के दौर पर नेहरू लगातार यह जानने की कोशिश करते थे कि कांग्रेस में क्या कुछ हलचल है? आजादी की लड़ाई में क्या उबाल आ सकता है? भरोसेमंद जानकारी के लिए वे सुभाष को ही विश्वासपात्र समझते थे।

दुर्भाग्य से इस मैत्री में शीघ्र ही दरार पड़ गई। जब सुभाष को दुबारा कांग्रेस अध्यक्ष बनाने का प्रस्ताव रखा गया तो गांधी ने एतराज जतायी तथा उसमें अड़गा लगा दिया। यहां इस प्रसंग पर विस्तार से टिप्पणी अनावश्यक है। बापू के प्रति अगाध प्रेम के कारण ही सही परंतु नेहरू ने अपने कॉमरेड से पल्ला झाड़ लिया। इसके बाद से सुभाष और नेहरू की दूरी बढ़ती ही चली गई। यह भी जगजाहिर है कि सुभाष ने जब गांधी जी के समर्थित उम्मीदवार को परास्त कर दिया तब बापू ने सुभाष को इस्तीफा देने के लिए मजबूर कर देने की योजना बनाई। नेहरू समेत अनेक साथियों ने वर्किंग कमेटी की सदस्यता त्याग दी। इसके बाद सुभाष के लिए कांग्रेस में बने रहना असंभव हो गया।

अंग्रेज सरकार और भारत में उसके अधिकारी नेहरू की तुलना में सुभाष को कहीं अधिक खतरनाक समझते थे और इसी कारण बीमारी की हालत में भी उन्हें सख्त नजरबंदी में रखा गया था। यहीं से संतरियों की आंख में धूल झोंक कर भाग निकलने में सुभाष सफल हुए और अफगानिस्तान के रास्ते जर्मनी पहुंचने में कामयाब हुए। भले ही हिटलर से उन्हें मनचाही मदद नहीं मिल सकी परंतु वे पनडुब्बी में सवार जानलेवा जोखिम से लापरवाह जापान चले गए। जापान की मदद से दक्षिण पूर्व एशिया में उन्होंने 'आजाद हिंद फौज' का गठन किया। यह सुभाष के राजनीतिक जीवन का चरमोत्कर्ष था।

1943 तक जापानी सेना ज्वार की तरह उफान पर थी और उसने बारंबार यूरोपीय उपनिवेशवादी ताकतों को धूल चटाई। मलाया, सिंगापुर, बर्मा से अंग्रेज रण छोड़ भागने को मजबूर हुए। यही हाल डच साम्राज्यवादियों का इंडोनेशिया में और फ्रांसीसियों का हिंद चीन में हुआ। 'आजाद हिंद फौज' फौज के सैनिक

अराकान के जंगल पार कर इंफाल तक पहुंच गए और अंडमान को आजाद करा वहां तिरंगा झण्डा फहराया साथ ही सुभाष ने लाल किले की प्राचीर पर तिरंगा फहराने की ललकार सुनाई। 'कदम कदम बढ़ाए जा खुशी के गीत गाए जा ये जिंदगी है कौम की तू कौम पर मिटाए जा' के तराने ने हर देशप्रेमी को नेताजी का मुरीद बना दिया। स्वयं महात्मा गांधी यह स्वीकार करने को विवश हुए कि भले ही वह हिंसा का रास्ता अपनाने वालों का समर्थन नहीं कर सकते परंतु नेताजी और उनके अनुयायियों का देश प्रेम सच्चा था और बलिदान का जज्बा अनुकरणीय। पर जल्द ही पासा पलट गया। पर्ल हार्बर पर हमले के बाद अमेरिका ने जापान के खिलाफ जंग का ऐलान किया और अंततः हिरोशिमा तथा नागासाकी पर एटम बम गिराने के बाद जापान के पास समर्पण के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा। यूरोप में भी हिटलर को सोवियत संघ पर असफल हमले के बाद पीछे हटने को मजबूर होना पड़ा। अंततः मित्र राष्ट्रों ने धुरी देशों को पराजित किया और नेहरू तथा गांधी विजेता पक्ष के साथ खड़े दिखे।

यह बात नकारी नहीं जा सकती कि नेताजी हारने के बाद भी करिश्माई नेता बने रहे। यह बात साफ थी कि जितना असर भारत छोड़ो आन्दोलन की उथल-पुथल का अंग्रेजों पर पड़ा उससे कम आजाद हिंद सेना के कारनामों का नहीं रहा। यह खौफ अंग्रेजों को थराने लगा कि सेना में हिन्दुस्तानी सैनिक कभी भी बगावत कर सकते हैं। महायुद्ध ने ब्रिटेन की हालत खस्ता कर दी थी। तबाही के बाद राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के लिए अमेरिकी सहायता की बाट जोहता ब्रिटेन भारतीय उपनिवेश का खर्च उठाने की सामर्थ्य नहीं रखता था। अचानक एक रहस्यमय विमान दुर्घटना में नेताजी की मृत्यु के समाचार ने देश को शोक संतप्त कर दिया। इस बात की पुष्टि निर्णायक रूप से कभी नहीं हो सकी कि विमान दुर्घटना में नेताजी का देहांत हो गया था या वे परदे के पीछे गायब हो कहीं और पहुंच गए तथा फिर प्रकट होने के लिए अवसर की तलाश करने लगे।

1942 में कैद कांग्रेसी नेता 1946 में रिहा किए गए और भारत में सत्ता के हस्तांतरण की योजनाएं बनाई जाने लगी। कैबिनेट मिशन, रेडक्लिफ अवार्ड और शिमला सम्मेलन के बाद यह बात तय हुई कि देश के विभाजन को स्वीकार किए बिना स्वाधीनता प्राप्त नहीं हो सकती। यहां इस बात का तफसील से बखान संभव नहीं कि इस सब में माउंटबेटन की क्या भूमिका रही या कैसे उनकी पत्नी के साथ मैत्री ने नेहरू को नरम दिल बनाया या कैसे बापू, पटेल और मौलाना आजाद जैसे दिग्गज इस फैसले के मूक दर्शक बने रहे। बहरहाल अनेक इतिहासकारों का मानना है कि प्रधानमंत्री/ राष्ट्रपति पद पर विराजने की नेहरू और जिन्ना की महत्वाकांक्षा ने इस परामर्श को पथभ्रष्ट किया। अंतरिम सरकार का गठन 1946 में हो गया। एक बार गांधी की कृपा तथा उनके निर्णायक हस्तक्षेप की वजह से पटेल पीछे धकेले नेहरू इस पद के लिए चुन लिए गए।

सुभाष धीरे-धीरे विस्मृति के गर्त में चले गए। कैलेंडर और मूर्तियों ने उनको सार्वजनिक रूप में मौजूद रखा पर वह भारतीय लोकतंत्र में असरदार नहीं समझे जा सकते।

रुद्राशु मुखर्जी की पुस्तक इसीलिए महत्वपूर्ण समझी जानी चाहिए कि वह नेहरू और सुभाष को एक-दूसरे के पूरक के रूप में पेश करती है, विपरीत ध्रुवों की तरह विश्लेषित नहीं करती। आज जब नेहरू बनाम नेताजी की बहस छिड़ती है तो हमें इनके साथ अंबेडकर, मौलाना आजाद और गांधी भी याद आने चाहिए। आधुनिक भारत का सपना अपने देशवासियों के साथ साझा करने वाले रवीन्द्रनाथ ठाकुर को भी हम नहीं भुला सकते। आज का भारत सिर्फ जवाहरलाल की विरासत नहीं न ही वह गांधी के सपनों का भारत है। शहर बनाम गांव, उद्योग बनाम खेती वाली बहस आज भी तय नहीं हो सकी है। ज्यामिति में सामांतर रेखाएं कभी नहीं मिलती पर राष्ट्र निर्माण तथा समावेशी विकास के लिए अनेक सरल, तिर्यक रेखाओं का संगम असंभव नहीं समझा जाना चाहिए।

पुस्तक समीक्षा

BOOK REVIEW



- पुष्पेश पंत

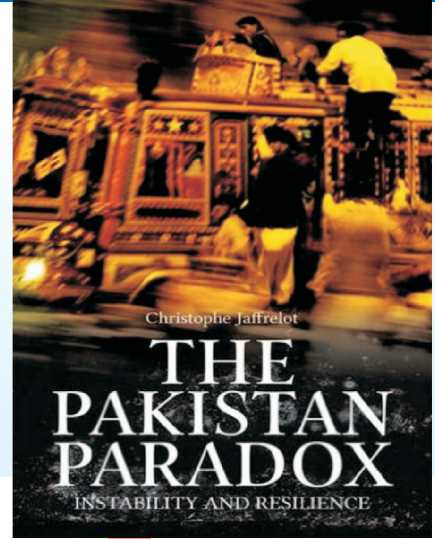
पाकिस्तान पैराडॉक्स

— इनस्टेबिलिटी एंड रेसिलिएंस, —

क्रिस्टोफ जेफ़्लो

कुछ को यह भी लगता है कि उनमें तटस्थता का अभाव है और वह दलगत पक्षधरता के कारण जटिल मुद्दों का अति सरलीकरण, व्यापक सामान्यीकरण करने में माहिर हैं। जेफ़्लो भारतीय समाचार पत्रों में नियमित स्तंभलेखन करते हैं और भारतीय नीति निर्धारकों में प्रभावशाली समझे जाते हैं। आम तौर पर भारत के समाज, अर्थ व्यवस्था, राजनैतिक घटनाक्रम का विश्लेषण करने वाले विदेशी विद्वान् अंग्रेज या अमेरिकी ही होते हैं शायद इसी कारण अपनी अलग पहचान बनाना जेफ़्लो के लिए सहज हुआ है। इस पुस्तक में भी नया या मौलिक कुछ नहीं हाथ लगता पर तब भी यह रचना उपयोगी है क्योंकि यदि एक बार पाठक किसी नई अंतर्दृष्टि की अपेक्षा त्याग दे तो अब तक प्रकाशित यत्र-तत्र बिखरी बहुत सारी सामग्री का पठनीय निचोड़ यहां प्रस्तुत किया गया है।

प्रतियोगी परीक्षा के प्रत्याशियों के लिए सबसे उपयोगी हिस्सा परिचय/भूमिका वाला है जिसमें उन तीन बुनियादी अंतर्विरोधों के सहअस्तित्व को रेखांकित किया गया है जो पाकिस्तान के गठन से आज तक उसके जीवन, राजनीति और समस्त क्रियाकलाप को संचालित करते रहे हैं। इनमें एक इस्लाम के कट्टरपंथी असहिष्णु और उसके उदार समावेशी स्वरूप के बीच है और दूसरा सेना और निर्वाचित जनप्रतिनिधियों के बीच संघर्ष में बारंबार उजागर होता रहा है। तीसरी गुंथी उर्दू तथा दूसरी भाषाओं के रिश्ते और केन्द्र बनाम सूबा के संबंधों से जुड़ी है। पाकिस्तान इस्लामी राज्य है पर भारत के विभाजन के वक्त उसके निर्माताओं का जो मिजाज था और आज के उलेमाओं की सोच में इस विषय में कोई साम्य नहीं। 'मजहब' इस राज्य को एक



रखने में असफल रहा है। बांग्लादेश का उदय और बलूचिस्तान, वजीरिस्तान, सिंध तथा सीमावर्ती जनजातीय प्रांतों की अलग कबाइली भाषाई पहचान सहधर्मी होने के बावजूद विभाजक बनी रही है। इस्लाम की मुख्य सुन्नी धारा से अलग शिया, अहमदिया, बोहरा संप्रदायों के उत्पीड़न की तुलना पाकिस्तान के हिंदू, सिख तथा ईसाई अल्पसंख्यकों की दुर्दशा से की जा सकती है। पाकिस्तान के सार्वजनिक जीवन पर पंजाबी-पठान आधिपत्य और इस समुदाय के श्रेष्ठवर्ग का सैनिक जनरलों के साथ गठजोड़ ही विविध अंतर्विरोधों के सहअस्तित्व को संभव बनाती रही। क्रिस्टोफ जेफ़्लो इस बात को जाने क्यों अनकहा छोड़ देते हैं कि पाकिस्तानी समाज का एक बहुत बड़ा अंतर्विरोध सामंती सामाजिक रिश्तों वाला है। पाकिस्तान में आज भी भूमि सुधार लागू नहीं हुए हैं और हजारों एकड़ जमीनों के मालिक जमींदार (वडेरा) राजनीति में प्रभावशाली हैं। इसके अलावा फौज के आला अफसर लंबे समय से उद्योग धंधों तथा लाभप्रद व्यापार में हिस्सेदार रहे हैं। 'जियो और जीने दो' के भ्रष्टाचारी सिद्धांत को अपनाने से ही बदलते शक्ति समीकरण संतुलित रहे हैं। जब असंतुलन अस्थिरता का संकट पैदा करता है तब बाहरी (अमेरिकी) हस्तक्षेप के कारण इसे नियंत्रित किया जाता रहा है। इस बात की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है अन्यथा जेफ़्लो के लेखन से यह गलतफहमी पैदा हो सकती है कि पाकिस्तान का 'पैराडॉक्स' खुद को सुस्थिर-संतुलित रखने में भविष्य में भी हमेशा

हाल में प्रकाशित क्रिस्टोफ जेफ़्लो की पुस्तक **पाकिस्तान पैराडॉक्स** ने कई पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। छह सौ पन्नों से अधिक आकार की इस रचना में पाकिस्तान के अंतर्विरोधों को समझने का प्रयास किया गया है। जहां कई अन्य समसामयिक पुस्तकें और लेख राष्ट्र राज्य के रूप में पाकिस्तान की असफलता को स्वयंसिद्ध मान कर कट्टरपंथी 'जिहादी' आतंकवाद की चुनौती के संदर्भ में ही सामरिक संवेदनशीलता या भूराजनैतिक महत्व के परिप्रेक्ष्य में टिप्पणियां करते हैं जेफ़्लो का फलक कहीं अधिक व्यापक है। वह भारतीय महाद्वीप में अलग मुसलमान राज्य के सपने के जन्म से उसके साकार होने का बखान विस्तार से करने की महत्वाकांक्षा रखते हैं और इसी पृष्ठभूमि में आज के पाकिस्तान के अंतर्विरोधों को उद्घाटित करने का दावा करते नजर आते हैं। वास्तव में अंग्रेजी शब्द 'पैराडॉक्स' का सही अनुवाद 'अंतर्विरोध' नहीं है बल्कि अंतर्विरोधों का असमंजस में डालने वाला सहअस्तित्व कहीं अधिक निकट है।

क्रिस्टोफ जेफ़्लो प्रसिद्ध फ्रांसीसी सामरिक विशेषज्ञ हैं जिन्होंने भारतीय महाद्वीप की समसामयिक राजनीति को अपने शोध का विषय बनाया है। कुछ वर्ष पहले भारत पर लिखी उनकी एक चर्चित पुस्तक विवादास्पद रही है। विवादास्पद इसलिए कि आलोचकों का मानना है कि दूसरे विद्वानों-अर्थशास्त्रियों, इतिहासकारों तथा समाजशास्त्रियों के मौलिक शोध का उन्होंने मनमाना दुरुपयोग किया है।

वैसे ही कामयाब होता रहेगा जैसे आज तक रहा है।

‘गृह युद्ध की ओर’ शीर्षक वाले अध्याय में पाकिस्तान के टूटने की संभावना को खारिज करते जेफ़्रलो यही रेखांकित करते हैं कि पाकिस्तान पिछले पैंसठ बरस से तमाम अंतर्विरोधों के साथ खंडित नहीं हुआ है। फौजी तानाशाही और निर्वाचित सरकारों की रस्साकशी के बावजूद, उनके अनुसार, मुकाबला किसी एक के पक्ष में निर्णायक तरीके से तय नहीं हुआ है। अलगाववादी, बागी पखून और सिंधी जो कभी केन्द्र सरकार के लिए बड़ा सरदर्द था आज मुख्यधारा में है। अफगान शरणार्थियों की बहुत बड़ी तादाद में आने से सीमावर्ती प्रांतों का चेहरा बदल गया है पर इस असाधारण स्थिति का भी पाकिस्तान अभ्यस्त हो चुका है। लेखक की नजर में पाकिस्तान के विभाजन या विखंडन की भविष्यवाणी करने की जल्दबाजी की जरूरत नहीं। पुस्तक के पहले भाग में चार अध्याय हैं जो मुख्यतः ऐतिहासिक घटनाक्रम का पुनरावलोकन करते हैं। इसका शीर्षक दिलचस्प है ‘राष्ट्र ही नहीं जनता के भी अभाव में राष्ट्रवाद’। मुस्लिम अलगाववाद के आविर्भाव और विकास का विस्तार से वर्णन करते लेखक (1875) के बाद आहत मुसलमान अस्मिता, आत्मसम्मान की पुनर्स्थापना की छटपटाहट और सर सैय्यद अहमद खान जैसे समाज सुधारकों की भूमिका पर प्रकाश डालता है। नया कुछ भी नहीं। इसी तरह जिन्ना के कांग्रेस में बिताए दिनों और इस संगठन से क्रमशः मोहभंग के बखान में भी उन बातों का दोहराव ही है जो सार्वजनिक जानकारी में हैं। मुसलमान विचारकों के देवबंदी और बरेलवी खेमों में विभाजित होने तथा इनके मतभेदों का पाकिस्तान के निर्माण पर पड़े असर का काफी विस्तार से जिक्र जेफ़्रलो ने इस पुस्तक में किया है। खिलाफत आंदोलन के कारण विश्वभर में इस्लाम के अनुयायियों में उनके नेताओं में मतभेद उभर कर सामने आए। भारतीय उपमहाद्वीप इसका अपवाद नहीं था। स्वयं गांधी ने इस मुद्दे को भारत की आजादी की लड़ाई के साथ जोड़ा था। इस विषय पर प्रसिद्ध इतिहासकार बी आर नंदा की पुस्तक गांधी और पैन इस्लामिक आंदोलन पहले ही काफी प्रकाश डाल चुके हैं।

पुस्तक का दूसरा खंड संभवतः सबसे रोचक और पठनीय है जिसे नाम दिया गया है ‘न जनतंत्र न एकाधिपत्य’। इसमें फील्ड मार्शल अयूब खान, जुल्फिकार अली भुट्टो, जनरल जिया, नवाज शरीफ, बेनजीर भुट्टो, जनरल मुशर्रफ, जरदारी, और फिर नवाज शरीफ के शासन काल का वर्णन अंतर्विरोधों के संदर्भ में किया गया है। यहां भी जो कुछ जानकारी है वह पूर्व प्रकाशित आत्मकथाओं और अन्य विद्वानों

के शोध का सार संक्षेप ही है। हां, पाकिस्तान में मीडिया और न्यायपालिका के साथ कार्यपालिका का तथा सेना के साथ संघर्ष के उतार चढ़ाव, आपस के गठजोड़ के परिप्रेक्ष्य में नागरिक समाज की सक्रियता के कारण जनतांत्रिक बदलाव की संभावना के बारे में खुद बहुत कुछ सोचने की प्रेरणा पाठक को मिलती है। जेफ़्रलो का नजरिया पाकिस्तान के प्रति दोस्ताना और सहानुभूतिपूर्ण है

सो उनका आशावाद पाकिस्तानी आलोचकों को रास नहीं आया है पर न्यायमूर्ति “तेकार चौधरी और मुशर्रफ की मुठभेड़ के हथ्र को देखते हुए तर्कसंगत नहीं लगता कि इस अनुभव से जनतंत्र की जड़ें पाकिस्तान में मजबूत हुई हैं। नवाज शरीफ, जरदारी आदि सभी न्यायपालिका के कारण बचाव की मुद्रा में रहे पर अदालतों की सत्ता की महिमा गरिमा तभी तक बरकरार रही है जब तक फौजी हुक्मरान इस संस्था को अपनी स्थिति निरापद रखने के लिए उपयोगी समझते हैं और परदे के पीछे से सूत्र संचालन करते हैं। यह सच है कि आज पाकिस्तान में मार्शल लॉ नहीं पर वर्चस्व सेना का ही है। निर्वाचित सरकार सत्ता प्रतिष्ठान का मुखौटा भर है।

पुस्तक के तीसरे भाग का शीर्षक है ‘इस्लाम: क्षेत्रीय विचारधारा या एक राजनैतिक धर्म?’ जितने तामझाम से जेफ़्रलो बात शुरू करते हैं उससे लगता है कि कोई नयी मौलिक स्थापना वह करने जा रहे हैं। पर इस बार भी निराशा ही हाथ लगती है। इस्लाम अपने जन्म से ही स्वघोषित राजनैतिक धर्म रहा है। पूरे विश्व को वह दारुल इस्लाम एवं दारुल बहर में बांटता है। दुनिया भर में इस्लामी हुकूमत की स्थापना के बिना मुसलमान असुरक्षित और संकटग्रस्त ही समझे जाते हैं। इस घड़ी सीरिया-शाम में बगदादी ने जिस नई खिलाफत की घोषणा की है वह इसी पारंपरिक तर्क का अनुसरण करती है। इससे पहले ऐतिहासिक पुनरावलोकन वाले भाग में लेखक स्वयं इस प्रवृत्ति/मानसिकता पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुका है। अतः इस तरह का शीर्षक चुस्त फिकरेबाजी ही लगता है। जो हकीकत नकारी नहीं जा सकती वह यह है कि इस्लाम का दावा सदा से सार्वभौमिक रहा है क्षेत्रीय नहीं। धर्म और राजनीति के बीच अंतर उसकी परंपरा का हिस्सा नहीं। इस बात को नकारना असंभव है कि प्रभावशाली उलेमा इस्लाम की व्याख्या वैज्ञानिक प्रगति के आलोक में करने में असमर्थ रहे हैं या इसके अनिच्छुक। इसी कारण कट्टरपंथी असहिष्णु वहाबी इस्लाम का आक्रामक निर्यात करने में सऊदी अरब सफल हुआ है। सभ्यताओं की मुठभेड़ भी मुख्यतः इस्लाम और इसाईयत के बीच

दिखलाई देती रही है। लेखक ने इस पुस्तक में एक से ज्यादा बार जिन्ना की धर्मनिरपेक्षता का उल्लेख किया है। यह भूला देना घातक होगा कि कायदे आजम जिन्ना बहुसंख्यक पाकिस्तानी मुसलमानों की मानसिकता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। वह स्वयं इस्लाम के एक अल्पसंख्यक संप्रदाय के सदस्य थे। अपनी परवरिश और पश्चिमी आधुनिक जीवन शैली के कारण वह बहुसंख्यक मुसलमानों से अपनी सोच को साझा नहीं कर सकते थे। इसके अलावा आज के पाकिस्तान के संदर्भ में 1920-30 वाले लगभग सौ साल पुराने माहौल को तूल देना वाजिब नहीं लगता।

इन पंक्तियों के लेखक की राय में इस्लाम के बारे में इस तरह का सरलीकृत निष्कर्ष सिर्फ पाकिस्तान के अनुभव के आधार पर नहीं निकाला जा सकता। याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि पाकिस्तान से अधिक मुसलमान भारत और बांग्लादेश में बसते हैं और दुनिया का सबसे मुस्लिम बहुल आबादी वाला देश इंडोनेशिया है। इसके अलावा शिया इस्लाम का सांस्कृतिक केन्द्र ईरान है जो अंतर्राष्ट्रीय भूराजनीति में अलग हस्ती रखता है। इसीलिए जेफ़्रलो सिर्फ पाकिस्तान के अनुभव के आधार पर इस्लाम के चरित्र के बारे में निर्णय करने वाला शीर्षक चस्पान करने की यह कोशिश बुद्धिमानी नहीं लगती। वह पाकिस्तान की राजनीति और उसके अंतर्विरोधों के सिलसिले में अफगानिस्तान तक तो पहुंचते हैं पर सऊदी अरब या गद्दाफी के लीबिया जैसे देशों के साथ जुड़े तार नहीं टटोलते। यदि वह ऐसा करते तो निश्चय ही इन अंतर्विरोधों की अमेरिका के लिए उपयोगिता को चाहे अनचाहे बेनकाब करने से नहीं बचते। जनरल जिया के दौर में पाकिस्तान का जो कट्टरपंथी इस्लामीकरण हुआ वह उनकी पीठ पर अमेरिकी वरद हस्त के बिना असंभव था। यह भी नजरंदाज नहीं किया जा सकता कि पाकिस्तान फौज की ताकत बिना अमेरिकी सहायता के बरकरार नहीं रह सकती। अपने सामरिक हितों के मद्देनजर ही अमेरिका ने पाकिस्तान की परमाणविक तस्करी की अनदेखी की है और उस देश को आतंकवादियों का अभयारण्य बनने में मदद दी है। वर्ल्ड टावर ध्वस्त होने के बाद ही अमेरिका को इस बात का अहसास हुआ कि वह खुद भी इस्लामी दहशतगर्दों का शिकार बन सकता है। इस हमले के बरसों बाद पाकिस्तान की एक फौजी छिपे ओसामा बिन लादेन को मार गिराने वाले अभियान से उसने पाकिस्तानी संप्रभुता की धज्जियां उड़ा दीं। इस घटना ने पाकिस्तानी सेना की लाचारी नाकसामी को कुछ उसी तरह उद्घाटित किया जैसे बांग्लादेश के उदय ने।

विडंबना यह है कि इसके कुछ ही समय बाद वही 'अमित्रा' पाकिस्तानी सेना फिर से भरोसेमंद बन गई। जेफ्रलो अमेरिका में तैनात पाकिस्तानी राजदूत हक्कानी के कार्यकाल के सनसनीखेज मैमोगेट खुलासे का जिक्र जरूर करते हैं जिससे परस्त हिम्मत पाकिस्तानी सेना और निर्वाचित प्रधानमंत्री के मौका परस्त 'मतभेद' का पता तो चलता है पर पाकिस्तान के अंतर्विरोधों को पैदा करने और इन्हें लगातार

उलझाए रखने में उसकी हिस्सेदारी की पड़ताल नहीं की जाती। सिर्फ निष्कर्ष वाले संक्षिप्त अध्याय में क्रिस्टोफ जेफ्रलो इन मुद्दों को नाम मात्रा के लिए छू भर लेते हैं और पाकिस्तान के शासक श्रेष्ठवर्ग को बाहरी संरक्षण/सहायता के कारण तीन बुनियादी अंतर्विरोधों में एक चौथे नए आयाम को जोड़ते हैं। बेहतर होता कि इस पुराने आयाम को वह अपनी पुस्तक के हर

भाग में समुचित महत्व देते।

पुस्तक का पूरा कथ्य कहीं छोटे कलेवर में असरदार तरीके से समेटा जा सकता था परंतु शायद लेखक की मंशा पाकिस्तान पर भी भारत जितनी भारी भरकम पुस्तक प्रकाशित कराने की थी!

लैटर्स फॉर ए नेशन

फ्रॉम जवाहर लाल नेहरू टु हिज चीफ मिनिस्टर्स-1947-1963,



मणिकांत सिंह

अभ्यर्थियों! 'जी एस वर्ल्ड' की प्रतिबद्धता गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने की रही है। वर्तमान में सिविल सेवा परीक्षा की मांग लगभग पूरी तरह बदल चुकी है। अभ्यर्थियों को भी नई जरूरतों के अनुकूल अपने आपको तैयार रखने की जरूरत है। इसी बदलाव को ध्यान में रखते हुए 'जी०एस० वर्ल्ड' प्रबन्धन के द्वारा 'Thinking out of the box series' के तहत कई नवीन पहल की गई है। उनमें अद्यतन पहल है अभ्यर्थियों को महत्वपूर्ण पुस्तकों का रिव्यू मुहैया कराना।

अभ्यर्थियों को यह ज्ञात हो कि ज्ञान का एक और संसार है- वह है पुस्तकों का संसार। इस संसार में केवल बौद्धिक प्राणी रहते हैं। यहाँ राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर के विद्वानों के साथ बौद्धिक संवाद स्थापित किया जाता है। प्रत्येक वर्ष कुछ स्तरीय पुस्तकों का प्रकाशन होता है। ये पुस्तकें आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक विषय पर विद्वानों की टिप्पणी प्रस्तुत करती हैं। कई बार इस प्रकार की पुस्तकें सिविल सेवा परीक्षा के प्रश्नों के स्वरूप पर भी अपना प्रभाव छोड़ती हैं, परंतु अभ्यर्थी सामान्यतः इस संसार से कटे हुए रहते हैं।

इस कमी को ध्यान में रखते हुए प्रो० पुष्पेश पंत एवं मणिकांत सिंह के निर्देशन में पुस्तक समीक्षा की श्रृंखला आरम्भ की गई है। इसके अंतर्गत प्रत्येक वर्ष प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षा प्रस्तुत की जाएगी। इसका नियमित अध्ययन निश्चय ही अभ्यर्थियों में आलोचनात्मक सोच विकसित करेगा, उनके विश्लेषण की क्षमता को प्रोत्साहित करेगा तथा उनकी समझ को धारदार बनाएगा।

LETTERS for a NATION
From

Jawaharlal Nehru
to His Chief Ministers
1947-1963



थी। उनकी पहली पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलकियाँ' (ग्लिंपसेस ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री) एच जी वेल्स की किताब का अनुकरण थी पर इतिहास को समझने का नजरिया खांटी भारत केंद्रित था। नेहरू की आत्मकथा (ऑटोबायोग्राफी) का प्रकाशन उनकी पत्नी के देहांत के तत्काल बाद हुआ था और शोक

भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने देश की आजादी के पहले ही एक लेखक के रूप में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर ली थी। उनकी पहली पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलकियाँ' (ग्लिंपसेस ऑफ वर्ल्ड हिस्ट्री) एच जी वेल्स की किताब का अनुकरण थी पर इतिहास को समझने का नजरिया खांटी भारत केंद्रित था। नेहरू की आत्मकथा (ऑटोबायोग्राफी) का प्रकाशन उनकी पत्नी के देहांत के तत्काल बाद हुआ था और शोक

संतप्त पति की छवि ने इस कृति को मर्मस्पर्शी बना दिया था। इसके साथ ही 'पिता के पुत्री को पत्र' (अ फादर्स लैटर्स टु हिज डॉटर) भी कम चर्चित नहीं रही। कारावास से लिखे इन पत्रों के माध्यम से वह अपनी उस पुत्री की शिक्षा में हाथ बंटाने का प्रयास करते रहे थे जिसे बचपन में ही माता के स्नेह और नियमित स्कूली पढ़ाई से वंचित रहना पड़ा था। आजादी की पूर्व संध्या में 'भारत एक खोज' (डिस्कवरी ऑफ इंडिया) प्रकाशित हुई जो इस देश की बहुलवादी समन्वयात्मक सांस्कृतिक विरासत को समझने का गंभीर प्रयास था। इसमें व्यक्तिगत अनुभव, यात्राओं से हासिल जानकारी का अनोखा संगम इतिहास-राजनीति की प्रामाणिक पुस्तकों से

मिलने वाली जानकारी के साथ दिखलाई देता है। आजादी के बाद प्रकाशित होने वाली नेहरू की एक और उल्लेखनीय पुस्तक है 'पुराने पत्रों का गुच्छा' (ए बंच ऑफ ओल्ड लैटर्स) जिनमें अधिकांश उनके मित्रों, जानकारों ने उन्हें लिखे थे कुछ नेहरू के लिखे खत भी संकलित हैं। हालांकि नेहरू की संकलित रचनाओं का प्रकाशन नेहरू स्मारक निधि द्वारा 70 जिल्दों से अधिक की श्रृंखला में किया जा चुका है और इसमें दुर्लभ पठनीय सामग्री सुलभ कराई गई है। नेहरू के पत्राचार की एक और पुस्तक तक आम तौर पर आम आदमी का ध्यान नहीं जाता। यह प्रधानमंत्री बनने के बाद अपने मुख्यमंत्रियों के नाम उनके द्वारा हर पखवाड़े लिखे पत्रों का संग्रह है।

शायद अपेक्षाकृत उपेक्षा का कारण यह रहा है कि लोग समझते हैं इनमें केवल विशेषज्ञों की ही रुचि हो सकती है क्योंकि इनके विषय नीरस प्रशासनिक मुद्दे रहे होंगे। जब यह पत्र लिखे गए उस वक्त भले ही कुछ सामयिक विषय दिलचस्प रहे हों आज इन गढ़े मुद्दों को उखाड़ने से क्या हासिल होगा? कुछ छिद्रान्वेषी यह टिप्पणी भी करते हैं कि अहंकारी नेहरू खुद को सर्वज्ञ समझते थे और हेडमास्टर की मुद्रा में मुख्यमंत्रियों को उपदेशनुमा सबक पढाते थे कभी जनतंत्र के बारे में तो कभी विदेश नीति के बारे में। यह एकतरफा आलाप-प्रलाप था जिसे पत्र प्राप्त करने वाले अनसुना करते थे। इन पंक्तियों के लेखक का मानना है कि इन दोनों ही गलत फहमियों से छुटकारा पाने की जरूरत है। सबसे पहले यह याद दिलाने की जरूरत है कि आजादी के ठीक बाद के दौर में तत्कालीन मुख्यमंत्री छोटभैया नेता नहीं थे। आजादी की लड़ाई में नेहरू के साथ कंधा से कंधा मिला कर भाग ले चुके महारथी दिग्गज थे। कुछ तो उग्र और अनुभव में उनसे बड़े थे। जरा इन नामों पर नजर डालिए- पश्चिम बंगाल में डॉक्टर बिधान चंद्र रॉय, संयुक्त प्रांत में गोविंद बल्लभ पंत, मध्यभारत में पंडित रविशंकर शुक्ल, ओडिशा में हरे कृष्ण माहाताब एवं बीजू पटनायक, बंबई में (जिसमें महाराष्ट्र और गुजरात दोनों शामिल थे) मोरारजी देसाई और मद्रास में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी! क्या आप कल्पना कर सकते हैं इनमें से कोई भी नेहरू से छात्रवत् कुछ सीख सकता था? हकीकत यह है कि नेहरू की हार्दिक इच्छा अपने मन की हर छोटी बड़ी बात का साझा इन सहयोगियों के साथ करने की थी। यह खत अहंकार वश नहीं बल्कि विनयशीलता का ही प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। मजेदार बात यह है कि इनका मजमून कभी भी प्रशासनिक तक सीमित नहीं रहा। नेहरू जिस किसी संवाद को छेड़ते थे उसका फलक बहुत व्यापक होता था। यह बात इस पुस्तक के विभिन्न अध्यायों से भली भांति जाहिर होता है जिनको कभी एक मुख्य विषय पर केन्द्रित कर किया गया है। नागरिकता और संविधान, सांप्रदायिकता तथा धर्म निरपेक्षता, पंचवर्षीय योजनाएं, विदेश नीति,

युद्ध और शांति, अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य, खेती-बाड़ी, औद्योगिक विकास की चुनौतियां, भूमि सुधार आदि। हमारे जनतंत्र की संघीय प्रणाली के सुचारु संचालन की गुल्थी को सुलझाने का प्रयास भी इन पत्रों में प्रतिबिंबित होता है। नौजवान पाठकों को भी यह महसूस करते देर नहीं लगेगी कि इनमें से अनेक मुद्दे आज भी ज्वलंत प्रश्न बने हैं। कुल मिलाकर 'आजाद भारत की पहचान' को तलाशने और तराशने की एक ईमानदार कोशिश यहां देखने को मिलती है।

आजकल अकसर यह बहस गर्म होती है कि कैसे सत्तारूढ सरकार नेहरू की विरासत को नष्ट करने पर आमदा है या नेहरू की वैचारिक विरासत में संधमारी कर रही है। इस सिलसिले में समीक्षित पुस्तक हर जागरूक नागरिक द्वारा पढ़ी जानी चाहिए ताकि वह व्यक्तिपूजक अंध-भक्ति और पूर्वाग्रह ग्रस्त आलोचना से मुक्त अपने विवेक के आधार पर राय बना सके। असली प्रश्न नेहरू के मूल्यांकन का नहीं वरन आज के भारत में जनतांत्रिक संस्थाओं की कमजोरी बनाम ताकत, उनके अस्तित्व के संकट के साथ-साथ अनेक उन बुनियादी सरोकारों के बारे में सोचने को प्रेरित करती है जो हमारी जिंदगी से जुड़े हैं।

अपने लंबे कार्यकाल में नेहरू की सोच में भले ही आमूलचूल परिवर्तन न हुआ हो इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि बदलते वक्त के साथ उनके व्यवहार-आचरण में अंतर अवश्य देखने को मिलता है। इस पुस्तक के एक पत्र में वह नागरिक के अधिकारों की हिमायत जोरदार शब्दों में करते हैं परंतु इसी कालखंड में अपने विरोधी असहमति का स्वर मुखर करने वालों का सख्ती से कमोबेश औपनिवेशिक शासकों की शैली में दमन भी कर रहे थे। साम्यवादियों का ही नहीं राम मनोहर लोहिया जैसे पुराने सहयोगियों को भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उपयोग करने का खामियाजा भुगतना पड़ा। सिविल नाफरमानी को बर्दाश्त करना तो दूर की बात है। यह भी नहीं भूलाना चाहिए कि 1957 तक संसद में कांग्रेस का एकछत्र आधिपत्य था। विपक्ष का कुल जमा हिस्सा

सदन की एक चौथाई सीटों तक सिमटा था। इस माहौल में पहले प्रधानमंत्री के तेवर क्रमशः जनतांत्रिक से असहिष्णु तानाशाह सरीखे होते चले गए। सहनशीलता का क्षय इसका अनिवार्य परिणाम था। नेहरू के अनेक जीवनीकारों ने इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। युद्ध और शांति के प्रसंग में भी यह पत्र इस बात को उद्घाटित करते हैं कि जवाहरलाल दूर-दराज रणक्षेत्रों जैसे कोरिया के बारे में तो वाचाल हो सकते थे पर भारत की सरहद से जुड़े विवादों के बारे में मितभाषी बना रहना ही वह विवेकपूर्ण समझते थे। चीन के साथ भारत का सीमा विवाद 1957-58 में सतह पर आ चुका था। वैसे कुछ लोगों की राय है कि जिस समय जनवादी चीन ने तिब्बत को बलात् आजाद कराया उसी वक्त भविष्य में मुठभेड़ का बीजारोपण हो चुका था। पर नेहरू ने कई साल तक इस जानकारी को साझा अपने विश्वासपात्र मुख्यमंत्रियों से करने की जरूरत नहीं समझी। आदर्शवादी समझे जाने वाले नेहरू के यथार्थवादी व्यवहारिक चेहरे की झलक भी इन पत्रों के दर्पण में प्रतिबिंबित हुई है। नेहरू जब आजाद भारत में राष्ट्र निर्माण की बात करते खुद को समाजवादी सोच का समर्थक बताते हैं तब उस वक्त के हालात को देखते हुए मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला उनका नुस्खा बिल्कुल सही लगता है। पर इसके साथ ही पाठक अपने से यह पूछने को भी विवश होता है कि क्या भूमंडलीकरण के इस दौर में आर्थिक सुधारों को अपनाने के बाद समाजवाद इस देश में संविधान की प्रस्तावना के अतिरिक्त कहीं और शेष है भी या नहीं? अमेरिका और चीन-जापान को एक ही सांस में अपना सामरिक मित्र घोषित करने वाले भारत में गुट निरपेक्षता की नेहरू की अवधारणा की प्रासंगिकता भी संदिग्ध लगती है। दूसरे शब्दों में, नेहरू की विरासत को खतरा सिर्फ उनके राजनैतिक विपक्षियों से नहीं विश्व भर में एक विचारधारा के निष्प्राण होने से पैदा हुआ जान पड़ता है! राजीव गांधी के कार्यकाल में ही दिशा परिवर्तन होने लगा था। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के दूरगामी परिणामों से

नेहरू अनभिज्ञ नहीं थे पर क्यों तब उन्होंने यह निर्णय लिया? यह पत्राचार इस विषय पर यथेष्टप्रकाश नहीं डालता।

व्यवहारिक चेहरे की झलक भी इन पत्रों के दर्पण में प्रतिबिंबित हुई है। नेहरू जब आजाद भारत में राष्ट्र निर्माण की बात करते खुद को समाजवादी सोच का समर्थक बताते हैं तब उस वक्त के हालात को देखते हुए मिश्रित अर्थव्यवस्था वाला उनका नुस्खा बिल्कुल सही लगता है। पर इसके साथ ही पाठक अपने से यह पूछने को भी विवश होता है कि क्या भूमंडलीकरण के इस दौर में आर्थिक सुधारों को अपनाने के बाद समाजवाद इस देश में संविधान की प्रस्तावना के अतिरिक्त कहीं और शेष है भी या नहीं? अमेरिका और चीन-जापान को एक ही सांस में अपना सामरिक मित्र घोषित करने वाले भारत में गुट निरपेक्षता की नेहरू की अवधारणा की प्रासंगिकता भी संदिग्ध लगती है। दूसरे शब्दों में, नेहरू की विरासत को खतरा सिर्फ उनके राजनैतिक विपक्षियों से नहीं विश्व भर में एक विचारधारा के निष्प्राण होने से पैदा हुआ जान पड़ता है! राजीव गांधी के कार्यकाल में ही दिशा परिवर्तन होने लगा था। भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन के दूरगामी परिणामों से नेहरू अनभिज्ञ नहीं थे पर क्यों तब उन्होंने यह निर्णय लिया? यह पत्राचार इस विषय पर यथेष्टप्रकाश नहीं डालता।

नेहरू ने इस तरह के पत्र लिखना आजादी के ठीक बाद शुरू कर दिया था और अपनी मृत्यु के करीब छह महीने पहले तक तमाम व्यस्तताओं के बावजूद इस क्रियाकलाप में उन्होंने व्यवधान नहीं पड़ने दिया। करीब पौने तीन सौ ऐसे पत्रों से चुनिंदा को माधव खोसला ने प्रस्तुत किया है। माधव नेशनल लॉ यूनिवर्सिटी के स्नातक हैं संप्रति अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में शोध कर रहे हैं। शायद इसी कारण पत्रों के चुनाव में तटस्थता और नेहरू के देहांत के बाद जन्मी वयस्क हुई पीढ़ी की जानकारी तथा रुचि के अनुकूल पत्रों के अंश उन्होंने संकलित किए हैं। पेशेवर इतिहासकारों को इस बात से आपत्ति होगी कि

केवल पत्रों के अंश ही क्यों प्रकाशित किए हैं पूरे पत्र क्यों नहीं? पाठक को यह कैसे पता चलेगा कि जो अंश अप्रकाशित छोड़ा गया है वह महत्वपूर्ण नहीं? इसी तरह यह आपत्ति भी जायज है कि यदि संदर्भ सूचना के लिए संक्षिप्त ही सही कुछ पंक्तियां लिखी जातीं तो बेहतर होता। हम यह भी नहीं जान सकते कि क्या कभी कोई मुख्य मंत्री अपने प्रधानमंत्री की खतो-किताबत का उत्तर देता भी था या 'मौनम् सम्मति लक्षणम्' की सलाह शिरोधार्य कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर देता था।

कुछ पत्र डायरी शैली के हैं आत्मालाप जैसे। हीराकुंड बांध के शिलान्यास के समय लिखा पत्र भाखड़ा नांगल बांध का निर्माण संपन्न होने पर नेहरू के भाषण का पूर्वाभास कराता है। कहीं और किसी और व्याख्यान या लेख की अनुगूँज सुनी जा सकती है।

नेहरू जितने अच्छे लेखक थे उतने ही स्वाध्याय व्यसनी पाठक भी। लंबे कारावास वाले अंतराल में को भी यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि नेहरू यह जानते थे कि उनके बाद उनकी विरासत का मूल्यांकन करते वक्त इन पत्रों का इस्तेमाल किया जाएगा। इसी कारण राजनैतिक समझदारी और वाणी के संयम के दर्शन सर्वत्र होते हैं।

वह उन पुस्तकों को जुटा कर पढ़ते रहते थे जिनके पन्ने उलटने-पलटने तक की मोहलत उन्हें जेल के बाहर सार्वजनिक जीवन की व्यस्तता के कारण नहीं मिलती थी। मौलाना आजाद तथा सुभाष चंद्र बोस समेत दूसरे साथियों के तत्कालीन पत्रों एवं उस समय के संस्मरणों से इस बात की पुष्टि होती है कि वह भी नेहरू के 'जेल पुस्तकालय' का लाभ उठाते रहते थे। लंबे बंदी जीवन का सदुपयोग स्वाध्याय के लिए करने की वजह से ही नेहरू का सामान्य ज्ञान असाधारण रूप से व्यापक और गहरा हो गया था। इसी के आधार पर वह आजाद भारत के आर्थिक विकास तथा समता पूर्ण समाज की रचना के लिए विकल्प तलाश कर सकते थे। यह कहना नेहरू के प्रति अन्याय ही होगा कि यह पत्र विद्वता या

विशेषज्ञता के प्रदर्शन से सहयोगियों को अभिभूत करने के लिए लिखे गए थे। हां, किसी को भी यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि नेहरू यह जानते थे कि उनके बाद उनकी विरासत का मूल्यांकन करते वक्त इन पत्रों का इस्तेमाल किया जाएगा। इसी कारण राजनैतिक समझदारी और वाणी के संयम के दर्शन सर्वत्र होते हैं।

वास्तव में नेहरू का लेखन, उनके सार्वजनिक भाषण तथा संसद में उनके वक्तव्य सभी एक दूसरे के पूरक थे। उनके विचारों की कड़ी जो एक जगह कहीं शुरू होती थी कई दिन बाद कहीं और कुछ ठहराव के बाद फिर से गतिशील होती थी। मुख्यमंत्रियों के नाम लिखी इन चिट्ठियों में भी यह बात देखने को मिलती है।

संकलन का एक छोटा सा हिस्सा नितान्त व्यक्तिगत है- इसमें महात्मा गांधी के देहांत तथा आसफ अली एवं रफी अहमद किदवई के आकस्मिक निधन के बाद उनके साथ जुड़ी भाव भीनी यादों को संजोया गया है। इन संस्मरणों से कुछ ऐसी बातों का पता चलता है जो आज भुला दी गई हैं। 1942 की क्रांतिकारी उथल पुथल का साहसिक नेतृत्व करने वाली अरुणा आसफ अली की जुझारू छवि तो अविस्मरणीय है पर आसफ अली के कद का अनुमान लगाना कठिन होता जा रहा है। रफी अहमद किदवई का उल्लेख भी धर्मनिरपेक्ष मुसलमान कांग्रेसी नेता के रूप में ही ज्यादातर होता है। इसे भी अन्याय ही कहा जा सकता है।

कुछ दशक पहले डॉक्टर गोपाल ने नेहरू की अनेक कृतियों से चुनिंदा अंश लेकर एक संचयिता (एंथोलॉजी) का प्रकाशन कराया था। इसी तरह का एक संकलन नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए प्रोफेसर अर्जुन देव ने भी प्रस्तुत किया था। नेहरू के प्रशंसक डॉक्टर राधाकृष्णन् के पुत्र गोपाल की यह पुस्तक जिसने पढ़ी है उसे माधव खोसला के इस संकलन में दोहराव लग सकता है पर वह किताब वर्षों से उपलब्ध नहीं है अतः हमारी समझ में यह पुस्तक स्वागत योग्य है और सराहनीय भी।



पुस्तक समीक्षा

BOOK
REVIEW

- पुष्पेश पंत

पाकिस्तान

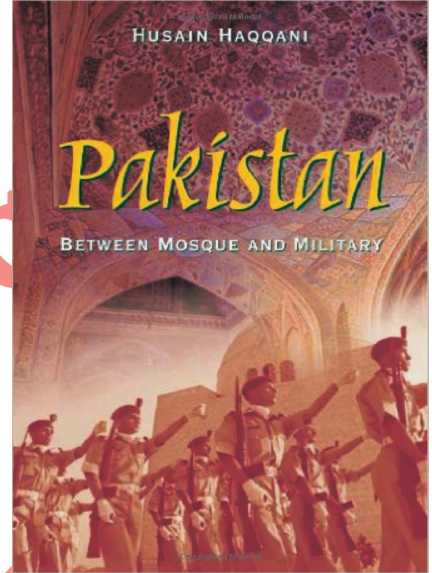
बिट्वीन मौस्क एंड मिलिटरी

लेखक : हुसैन हक्कानी

हाल में पाकिस्तान की हालत बयां करने वाली बहुत सारी किताबें सुलभ हुई हैं। इनमें वहां की सरकार के चोटी के पदों पर काम कर चुके नौकरशाहों, राजनेताओं के संस्मरण शामिल हैं और कुछ जीवनियां भी। पाकिस्तानी तथा अमेरिकी विश्वविद्यालयों में कार्यरत राजनीति विज्ञान तथा अन्य समाज शास्त्रियों के शोध पर आधारित कुछ ग्रंथ काफी उपयोगी हैं। इस सूची में पूर्व विदेश मंत्री कसूरी, फातिमा भुट्टो, परवेज मुशर्रफ के चरमदीद बयान उल्लेखनीय हैं। क्रिस्टोफर फिजिलौट की भारी भरकम 'पाकिस्तान' भी चर्चित रही है। पर हमारी समझ में अगर किसी पाठक को पाकिस्तान के जन्म से आज तक उस देश की राजनीति के उतार चढ़ाव को ठीक से समझना हो तो हुसैन हक्कानी की पाकिस्तान 'बिट्वीन मौस्क एंड मिलिटरी' सबसे पहले पढ़नी चाहिए।

इस किताब का पहला प्रकाशन भले ही आज से दस साल पहले हुआ हो यह एक दशक बाद भी सामयिक और सार्थक है। इसका सबसे बड़ा कारण लेखक का अंध राष्ट्रभक्ति से मुक्त होना और तटस्थता से अपनी सरकार की कमजोरियों, नाकामियों का ईमानदारी से विश्लेषण करने का इरादा है। इस जिम्मेदारी का पूरा निर्वाह हक्कानी ने किया है।

लेखक वही हक्कानी हैं जो बरसों तक अमेरिका में पाकिस्तान के राजदूत रहे और इससे पहले बेनजीर भुट्टो के भरोसेमंद सलाहकार थे। आज कल वह अमेरिका के एक मशहूर विश्वविद्यालय में राजनय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अध्यापन करते हैं। इन्हीं हक्कानी साहब का नाम 'मेमोगेट' नामक घोटाले के साथ जुड़ कर विवाद ग्रस्त हुआ था। जब औसामा बिन लादेन को पाकिस्तान में उसकी मांद में घुसकर अमेरिका ने ढेर कर दिया तब अमेरिका और पाकिस्तान के रिश्ते बेहद तनावग्रस्त हो गए थे पाकिस्तानी सेना अपने देश की संप्रभुता की रक्षा अमेरिकी सैनिक हस्तक्षेप से करने में असमर्थ रहने के कारण पंगु दिखलाई दे रही थी। जनसाधारण के मन में उसकी छवि कुछ वैसे ही गंदला गई थी जैसे 1971 में बांग्लादेश के उदय के बाद अमेरिकियों की नजर में जिस पाकिस्तानी सेना को उन्होंने बरसों से पाला पोसा था उसने उनके सबसे बड़े दुश्मन को एबटाबाद छावनी में पनाह दे कर उनके साथ गद्दारी की थी। इसी कारण तत्कालीन सदर नवाज शरीफ को लग रहा था कि वह अमेरिकी के साथ अपने यानि निर्वाचित गैर फौजी सरकार के रिश्ते सुधार सकते हैं। एक गोपनीय खत अमेरिकी प्रेसीडेंट के नाम लिख उन्होंने यह आशंका जाहिर की कि मौका मिलते ही पाकिस्तानी जनरल तख्ता पलट कर सकते हैं और ऐसा हुआ तो फौज तथा कट्टरपंथी जिहादियों की जुगलबंदी पाकिस्तान को बंधक



बना लेगी। इस पत्र का ब्यौरा अमेरिका के मीडिया में लीक होते ही पाकिस्तान में बवाल मच गया। फौज जो पस्त पड़ी थी हरकत में आई और उसने नवाज शरीफ को अमेरिकियों का पिट्टू घोषित कर पद पर बने रहने के अयोग्य कहना शुरू किया। शरीफ ने इस बात से साफ इंकार कर दिया कि फौज पर शक करने वाला कोई ऐसा खत उन्होंने लिखा था। चूँकि हरकारे की भूमिका हक्कानी ने बाहैसियत राजदूत निबाही थी, अखिरकार गर्दन उन्हीं की कलम की गई। बहरहाल।

पुस्तक के पहले चौथाई हिस्से में (जो पौने चार सौ पेज की किताब में महज 60-70 पन्नों तक सिमटा है) हक्कानी जिन्ना के देहांत



के बाद उनके उत्तराधिकारियों की प्रतिद्वंद्विता की वजह से पैदा अस्थिरता का संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत करते हैं। लियाकत अली की हत्या और अंतरिम गवर्नर जनरल गुलाम मोहम्मद चौधरी के अंतराल के बाद मेहर जनरल इस्कंदर मिर्जा के सदर बनने तक विभिन्न राजनैतिक दलों का वैचारिक दिवालियापन जनता के सामने साफ हो चुका था। भारत के विभाजन के समय पाकिस्तान में राजनैतिक नेतृत्व बहुत कमजोर था। जिन्ना के कद के सामने मुस्लिम लीग के दूसरे नेता बौने नजर आते थे। अधिकांश पंजाब, बंगाल (पूर्वी), या पखून बहुल उत्तर पश्चिमी सीमांत के क्षेत्रीय नेता थे। अभिजात वर्ग के जो नेता उत्तर प्रदेश या बिहार से आए थे उनका कोई जनाधार पाकिस्तान में नहीं था। नौकरशाही में उर्दू भाषी मुहाजिर (भारत से आए) मुसलमानों की बहुतायत थी तो सेना में पंजाबी तथा पठानों की। कुल मिलाकर सिंधियों, बलूचों अपने इस्लामी वतन में भी वंचित अल्पसंख्यक ही रह गए थे। बंगाली शिक्षा और सरकारियों का लाभ तो उठा रहे थे पर पंजाबी पठान उन्हें हिकारत की नजर से देखते थे—दब्बू और कमजोर कह बदनाम करते रहते थे। भाषा की खाई गहरी थी जिसे भूगोल ने और भी दर्दनाक बना दिया था। खुशहाल पंजाबियों को अपेक्षाकृत गरीब बंगाली नए राज्य के संसाधनों पर बोझ लगते थे। सिंध, पंजाब, सीमांत, बलूचिस्तान में बड़े जमींदारों तथा मजहबी नेताओं पीरों का तबका असरदार था। सेना की

आला कमान अंग्रेज अफसरों के हाथ थी। अपने 'बैरी' हिंदुस्तान की तुलना में पाकिस्तान का खजाना खाली था और अंतर्राष्ट्रीय मंच पर उसके दोस्त भी गिने चुने थे। कश्मीर पर हमलाकर उसे हडपने का दुस्साहसिक अभियान नाकामयाब रहा था और इससे भी सामरिक-सैनिक असुरक्षा का भाव बढ़ा था। अमीर मुसलमान देशों-सऊदी अरब, ईरान से मदद जुटाने के लालच में जिन्ना के वारिस उनके करीब आने की कोशिश में जुट गए। शीत युद्ध आरंभ होने के बाद ही अमेरिका से मदद की संभावना प्रकट हुई। 1951 में पाकिस्तानी फौज के पहले देसी जनरल अय्यूब खान ने ही इस दोस्ती को संधि का रूप देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

हक्कानी ने बड़े रोचक तरीके से सप्रमाण यह खुलासा किया है कि कैसे 1951 से लेकर 1958 तक अय्यूब ही परदे के पीछे से राजनेताओं को अपनी इच्छानुसार नचाते रहे। जब अमेरिकियों की मदद से उन्होंने पाकिस्तानी फौज को साधन संपन्न बना लिया तभी जाकर तख्तापलट कर वह मार्शल ला प्रशासक बने। हक्कानी को यह बात कबूल करने में कोई संकोच नहीं होता कि इस पूरे दौर में 'हिंदू' भारत के विरोध या उसके प्रति दुश्मनी को तर्क संगत बनाने में जनाधार विहीन नेताओं की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा का रोल निर्णायक रहा है। अपने भूराजनैतिक हितों के दबाव में अमेरिकियों ने आंख मूंद कर अजनतांत्रिक-सामंती संस्कार वाले पाकिस्तान को रूस के मित्र समाजवादी संस्कारवाले नेहरू के भारत पर तरजीह दी। यह वही दौर था जब अमेरिकी समाजशास्त्री यह विश्लेषण कर रहे थे कि नवोदित एशियाई देश जनतंत्र के लिए तैयार नहीं और निर्देशित जनतंत्र (गाइडेड डिमोक्रेसी) उनके लिए माकूल लगती है। पाकिस्तान, नेपाल तथा इंडोनेशिया में यही प्रयोग चल रहा था। अपने शासन के पहले हिस्से में अय्यूब अपनी अंतर्राष्ट्रीय छवि जनहितकारी देशभक्त तानाशाह वाली बरकरार रखने में कामयाब रहे। जैसे-जैसे भारत और चीन के संबंध तनावग्रस्त होने लगे पाकिस्तान

और माओवादी चीन एक दूसरे के करीब आने लगे। यह कम अचरज की बात नहीं कि सीटो तथा सेंटो सरीखे अमेरिकी सैनिक संगठनों का सदस्य रहते पाकिस्तान ने यह राजनैतिक उपलब्धि हासिल की। इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि यह उपलब्धि जुल्फिकार अली भुट्टो की थी जो अय्यूब के विदेश मंत्री थे।

दस साल के राज के बाद अय्यूब को 1968 में छात्र आंदोलन के बाद पद त्याग करना पड़ा। उन्होंने कार्यभार किसी गैर फौजी को सौंपने के बदले एक भरोसेमंद जनरल याह्या खान को सौंपना बेहतर समझा। तीन साल से कम समय में ही यह साफ हो गया कि याह्या का चुनाव कितना अनुपयुक्त था। अय्याश मिजाज याह्या पाकिस्तान के सामने मुंह बाए खडी चुनौतियों की अनदेखी करते रहे और पूर्वी पाकिस्तान में उफनते असंतोष के ज्वार को रोकने की जिम्मेदारी उन्होंने जनरल टिक्का खान पर छोड़ दी। भले ही हक्कानी ने बांग्लादेश मुक्ति संग्राम का विस्तार से वर्णन नहीं किया है उनको इस बात का श्रेय दिया जाना चाहिए कि उन्होंने कई दूसरे पाकिस्तानी लेखकों की तरह इसका ठीकरा भारत के सर नहीं फोड़ा है और सिर्फ इतना दर्ज किया है कि एक बार हालात विस्फोटक बनने के बाद भारत ने अपने राष्ट्रहित के अनुसार घटनाक्रम में राजनयिक, सामरिक, सहसैनिक हस्तक्षेप किया। पाकिस्तानी फौज द्वारा बंगालियों के वंशनाशक नरसंहार की लीपापोती हक्कानी नहीं करते यह भी कम प्रशंसनीय नहीं। पाकिस्तान की टूट के बाद सेना को मंच से बाहर जाना पड़ा और चुनावों के बाद 'अंग भंग' के बाद वाले पाकिस्तान की सत्ता भुट्टो ने संभाली।

पुस्तक में भुट्टो के कार्यकाल की विचारोत्तेजक समीक्षा पठनीय है। जुल्फिकार अली भुट्टो खुद को समाजवादी मानते थे। ऑक्सफोर्ड में पढ़े भुट्टो पाकिस्तान के एक पूर्व विदेश मंत्री के पुत्र थे और सिंध के एक बहुत बड़े जागीरदार थे। उनसे कोई यह उम्मीद नहीं करता था कि वह मजहबी सांप्रदायिक ताकतों को बढावा देंगे। परंतु जिन परिस्थितियों में उन्होंने सत्ता संभाली वह नाजुक थीं और फौज

के जबाबी हमले से खुद के बचाव के लिए भुट्टो ने इनसे हाथ मिलाना बेहतर समझा। काबिले तारिफ बात यह है कि भुट्टो परिवार के साथ अपने गहरे रिश्तों के बावजूद हक्कानी इस बात को बेहिचक कबूल करते हैं कि अपनी अदम्य महत्वकांक्षा के कारण भुट्टो यह देखने में असमर्थ थे कि वह कर क्या रहे हैं। लेखक की राय में मजहबी विचारधारा से छुटकारे का एक नायाब मौका करिश्माई भुट्टो तरक्की पसंद ने गंवा दिया। अहंकारी तुनकमिजाज तानाशाही स्वभाव ने क्रमशः पीपुल्स पाकिस्तान पारी से उन सभी नागरिकों को दूर कर दिया जिनको भुट्टो कभी भविष्य की आशा लगते थे। तरक्की पसंद छवि के धूमिल पडने के साथ साथ पाकिस्तान को एटमी शक्ति बनाने की मरीचिका में वह फंसते गए। जैसे-जैसे इस कार्यक्रम के लिए संसाधन जुटाने वह सऊदी अरब, लीबिया तथा ईरान के निकट गए इन 'असहिष्णु इस्लाम के निर्यातकों' के जाल में फंसते गए। पाकिस्तान में वहाबी तत्वों पर नकेल कसना कठिन होता गया। इस इस्लामीकरण से सेना भी अछूती नहीं रही। सिपाही ही नहीं नौजवान असर भी शरीयत के कानून की हिमायत करने लगे-कभी मुखर तो कभी चुपके चुपके। भुट्टो का सिंधी और बेशुमार अमीर होना भी जनसाधारण के मन में उनकी विश्वसनीयता घटाता था। पंजाबी और पख्तून तो उनके खिलाफ थे ही। आत्ममुग्ध भुट्टो को लगता था कि उनका अपना करिश्मा ही इतना असरदार है कि उन्हें किसी और के समर्थन की जरूरत ही नहीं। अमेरिकियों के मन में पहले से उनको लेकर आशंकाएं थीं- वह चीन के दोस्त थे और लीबिया तथा ईरान के भी। इसी कारण अमेरिकियों ने उनका समर्थन तहे दिल से कभी नहीं किया। भुट्टो के कार्यकाल में पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा दी सहायता की राशि 17 लाख डॉलर भर रही! जिस जिया उल हक को अपना चापलूस दरबारी चाकर समझ भुट्टो ने पदोन्नत कर सेनानायक पद पर बैठाया था उसी ने तख्तापलट कर उन्हें जेल भेज दिया और फिर अदालत से मृत्युदंड दिलवाया।

जिया का शासनकाल दस साल चला और इसे पाकिस्तान के एटमी करण और अफगानिस्तान में जिहादी हस्तक्षेप के लिए बेहद महत्वपूर्ण समझा जाता है। अधिकांश विद्वान इस बारे में एकराय हैं कि जिया ने कट्टरपंथी इस्लामी करण का सूत्रपात किया। इन पंक्तियों की लेखक की राय में हक्कानी का सोच इस बारे में कहीं अधिक तर्क संगत है। उनके अनुसार वहाबी इस्लाम का आयात भुट्टो के कार्यकाल में ही हो चुका था। खुद भले ही जिया दीन ईमान के पक्के मुसलमान थे वह कट्टरपंथियों के संरक्षक नहीं थे। न ही उन्हें आज की पाकिस्तानी फौज की तरह मुल्लाओं के समर्थन की जरूरत थी। उनके सौभाग्य से इसी घड़ी अफगानिस्तान से सोवियत सैनिकों को खदेड़ने की सामरिक प्राथमिकता अमेरिका महसूस करने लगा था। इस काम में पाकिस्तान की भूराजनैतिक स्थिति ने उसे अति संवेदनशील बना दिया था। नास्तिक साम्यवादियों के विरुद्ध तालिबान जिहादियों की रक्त बीज फौज तैनात करने वाली रणनीति ने रातोंरात पाकिस्तान को सबसे महत्वपूर्ण संधिमित्र में बदल दिया। इस दशक में अमेरिका से प्राप्त सहायता का आंकड़ा 27 अरब डॉलर के आस पास पहुंच गया! जिया की मौत एक रहस्यमय विमान दुर्घटना में होने तक पाकिस्तान का कायाकल्प हो चुका था। पेशावर तथा रावलपिंडी में अफगान शरणार्थियों की बाढ़ ने पाकिस्तान में नाजायज हथियारों, मादक पदार्थों के साथ-साथ विदेशी जिहादियों को भी बहुत बड़ी संख्या में पहुंचा दिया। उस वक्त अमेरिकियों को भी इस बात की परवाह नहीं बची रही कि इन मुजाहिदीन तत्वों की कैसी खतरनाक गंठजोड संगठित अपराधियों से हो रही है। इस अभियान ने न केवल पाकिस्तानी फौज को अमेरिकी फौज के करीब आने का मौका दिया बल्कि पाकिस्तानी गुप्तचर संगठन आइएसआइ को लगभग निरंकुश होकर अमेरिकी गुप्तचर संगठनों के साथ सहकार का अवसर दिया। ऐसे संगठन किसी भी देश में 'अदृश्य' सरकार की तरह काम करते हैं। कभी फौज का बच्चा समझी जाने वाली आइएसआइ तभी से फौज के सर पर सवार रही है।

जिया के बाद एक बार फिर यह आशा जगी कि पाकिस्तान में जनता द्वारा निर्वाचित गैर फौजी सरकार बन सकती है और जनतंत्र की बहाली की संभावना उजागर हो रही है। इस किताब का बड़ा हिस्सा गैर फौजी नेताओं की मौकापरस्ती, फूट तथा भ्रष्टाचार के कारण इस संभावना के बारंबार नष्ट होने का दुखद इतिहास है। नवाज शरीफ, बेनजीर भुट्टो, आसिफ जरदारी सभी के कार्यकाल निराशाजनक रहे हैं। हक्कानी देशप्रेम के कारण इस बात को छिपाने की कोशिश नहीं करते कि इस असफलता के लिए अमेरिका को ही जिम्मेदार समझा जाना चाहिए। अफगान मोर्चे पर तालिबान दुश्मन को परास्त करने के चक्कर में वह महाशक्ति पाकिस्तान की एटमी तस्करी के प्रति अंधी रही है और 9/11 वाले हमले के बावजूद निकम्मी फौज को ही पाकिस्तान में स्थिरता की गारंटी समझ उसकी मददगार बनी रही है। पूर्व केन्द्रीय मंत्री बुगाती की हत्या हो या बेनजीर भुट्टो की, अमेरिकी सरकार ने कभी यह जरूरी नहीं समझा कि वह हिंसा के जरिए फौज या आइएसआइ द्वारा अपने रास्ते के रोड़ों को हटाने की साजिश का पर्दाफाश करे। शरीफ का तख्ता पलट कर सदर बनने वाले परवेज मुशर्रफ को अपने पूर्ववर्ती फौजी तानाशाहों की तरह अमेरिका का चेहेता बनते देर नहीं लगी।

लेखक ने दो तीन बड़ी रोचक तथा विचारोत्तेजक बातों की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। जरदारी ने सत्ता में आने के बाद एकबार कहा था, "हर पाकिस्तानी के भीतर हिंदुस्तान का एक हिस्सा रहता है, वैसे ही जैसे हर हिंदुस्तानी के अंदर कहीं न कहीं जरा सा पाकिस्तान बसता है"। अर्थात् इन दो देशों के नागरिकों के बीच भाषा-बोली, खान-पान, पहनावे और साझे की तहजीब की विरासत की वजह से बहुत समानता है। जो बात अकसर जोडना लोग भूल जाते हैं वह यह है कि इसके बावजूद खून खराबे वाला बंटवारा हुआ और 1947 से आज तक दो सहोदर देशों के बीच चार-चार युद्ध लड़े जा चुके हैं। करीब तीन दशक से एक खूनी जंग दहशतगर्दी के हथियार से जम्मू कश्मीर राज्य में लड़ी जा रही है। ऐसी

हालत में इस पाकिस्तान की असलियत के बारे में जरदारी के इस वक्तव्य को महत्वपूर्ण समझने वाला नादान ही कहा जा सकता है।

हक्कानी ने यह बात बेलाग कबूल की है जितनी बार जंग छिड़ी है पाकिस्तान की शिकायत सरासर झूठ है कि भारत ने उस पर हमला किया है या आत्मरक्षा के लिए हथियार उठाने को उसे मजबूर किया है। उनका मानना है कि हर बार पाकिस्तान के फौजी हुक्मरानों ने ऐसी परिस्थितियां जानबूझ कर पैदा की हैं कि सैनिक टकराव टाला न जा सके। इसका प्रमुख कारण वही मनोवैज्ञानिक असुरक्षा का भाव है जो बंटवारे के समय से चला आ रहा है। आकार में कहीं बड़े हिंदुस्तान की बराबरी करने की होड ने अधिकांश पाकिस्तानी नेताओं को एक आत्मघातक दलदल में फंसा दिया है। इस मानसिकता को अमेरिका और चीन दोनों ने अपनी अपनी सामरिक विवशताओं के कारण बढ़ाया है। किसी भी नेता या नागरिक के लिए इस स्थापना को चुनौती देना असंभव बन गया है कि दक्षिण एशिया में इस्लामी पाकिस्तान 'हिंदू' भारत के समकक्ष नहीं। उसे देशद्रोही करार देना सहज है। कई बरस पहले भारतीय विद्वान शिशिर गुप्ता ने कश्मीर पर अपनी पुस्तक में यह टिप्पणी की थी कि राष्ट्र राज्य के रूप पाकिस्तान के अस्तित्व की रक्षा के लिए भारत का शत्रु के रूप में राक्षसीकरण जरूरी है। इस के अभाव में अपने यहां सक्रिय विभाजक तत्वों का दमन उस देश के शासकों के लिए बहुत कठिन है। मशहूर पत्रकार राजेन्द्र पुरी की भी यही राय थी कि पाकिस्तान के साथ बैर के निर्वाह की रणनीति तैयार करना बेहतर है बनिस्वत सरहद पर शमा जलाते सद्भावना बढ़ाने की आशा में मुशायरों के आयोजन के। हक्कानी पहले ऐसे पाकिस्तानी लेखक हैं जो ठंडे दिमाग से यह बात स्वीकार करते हैं कि जब तक अमेरिका, पाकिस्तानी फौज को आंख मूंद के सहायता समर्थन देता रहेगा तब तक उसकी मनोवैज्ञानिक असुरक्षा का स्थाईभाव समाप्त होने वाला नहीं। घुमा फिरा कर अमेरिकी प्रशासन फौज तथा आइएसआइ को ही अपने हितों की रक्षा के लिए भरोसेमंद

सहयोगी मानता है। लेखक के अनुसार अमेरिकियों को लगता है कि फौजी अफसर कट्टरपंथी जिहादी गैर फौजियों की तुलना में कम खतरनाक हैं। यह सोच आत्मघातक है।

हक्कानी ने बड़े कौशल से इस बात का पर्दाफाश किया है कि पाकिस्तानी फौज तथा दकियानूसी कट्टरपंथी मुसलमान नेताओं की जुगलबंदी जनरल जिया के शासनकाल से नहीं बल्कि 1949-50 से लगातार चली आ रही है। जब कभी कुछ समय के लिए गैर फौजी सरकार का गठन होता भी है तब भी मुल्लाओं के साथ 'जियो और जीने दो' की नीति अपनाता समझदारी माना जाता रहा है। इसके कारण तलाशने के लिए दूर जाने की दरकार नहीं। लेखक के अनुसार अफगानिस्तान का संकट और सोवियत संघ का विघटन पाकिस्तान के तानाशाहों को इस बात के लिए उकसाता रहा है कि वह धौंस-धमकी, बिनती-चिरौरी से अमेरिका, सऊदी अरब, चीन से मदद हासिल कर जनतंत्र को समूल नष्ट करते रहें। ईरान में राजनैतिक उथल पुथल शाह के शासन काल में प्रधानमंत्री मोसादेग को हटाने से ही चलती रही है। अफगानिस्तान की अहमियत एक मध्यस्थ (बफर) राज्य के रूप में 19 वीं सदी के उत्तरार्ध से ही बड़ी शक्तियां स्वीकार करती रही हैं। अपनी भूराजनैतिक स्थितिका भरपूर लाभ उठाने का मौका पाकिस्तान को शीत युद्ध ने दिया। इसी का नतीजा है कि वह एक साथ पूंजीवादी अमेरिका और माओवादी चीन तथा कट्टरपंथी इस्लामी देशों सऊदी अरब और ईरान का दोस्त बना रह सका है।

यह सोचना गलत होगा कि यह पाकिस्तानी शासकों - फौज या खुफिया संगठनों- के चमत्कारी राजनय की अद्भुत उपलब्धि है। यदि अब तक मस्जिद तथा फौज के बीच झूलता यह देश खंडित-विभाजित होने से बचा रह सका है तो सिर्फ अमेरिका की मेहरबानी से। लेखक ने इस खतरे से अपने देशवासियों को आगाह किया है कि जब तक पाकिस्तानी विदेशी- अमेरिकी, सऊदी या चीनी सहायता पर आश्रित परजीवी बने रहेंगे राष्ट्र राज्य की नींव कमजोर ही रहेगी। उसके अनुसार

इस्लामी विचारधारा पाकिस्तान की राष्ट्रीय अस्मिता, एकता, अखंडता को महफूज नहीं रह सकती।

हक्कानी की किताब कसूरी या मलीहा लोदी की पुस्तकों से बहुत फर्क है। यह सिर्फ विशेषज्ञों- सामरिक विश्लेषकों के लिए नहीं लिखी गई है। कभी पाकिस्तानी राजदूत रह चुके और बेनजीर के सलाहकार हक्कानी ने लेखक के रूप में तटस्था का पूरा निर्वाह किया है। समस्या यह है कि पाकिस्तान (या अमेरिका में भी) नीति निर्धारकों पर इसका खास असर पडने की संभावना बहुत कम है। पिछले दो तीन दशकों में पाकिस्तानी फौज बारंबार कमजोर होती और अपने संवैधानिक कर्तव्य के पालन में असमर्थ दिखलाई दी है। वह निरंतर कट्टरपंथी तत्वों के साथ सहकार के लिए विवश हुई है। साथ ही हाल के वर्षों में पाकिस्तान फौज का तेजी से इस्लामीकरण हुआ है। सिपाहियों और अफसरों के रूप में ऐसे नौजवान भरती हुए हैं जिनकी परवरिश इस्लामी निजाम में हुई है और जिनकी सहानुभूतियां जिहादियों के साथ हैं। अल्प संख्यक हिंदू-ईसाई ही नहीं शिया, अहमदिया भी इन्हें नाकाबिले बर्दाश्त दुश्मन लगते हैं। अर्थात्, आज के पाकिस्तान में फौज और मस्जिद को एक दूसरे का प्रतिद्वंद्वी समझने की भूल नहीं की जानी चाहिए। जिस वक्त पूरे इस्लामी जगत में, पश्चिम एशिया के अरब भूभाग में आक्रामक वहाबी इस्लाम का जबर्दस्त उफान उठा है यह कल्पना करना कठिन है कि हमारे पड़ोस में फौज और मस्जिद के समीकरण में कुछ बदलाव आ सकता है।

■■■

पुस्तक समीक्षा

BOOK REVIEW



मणिकांत सिंह

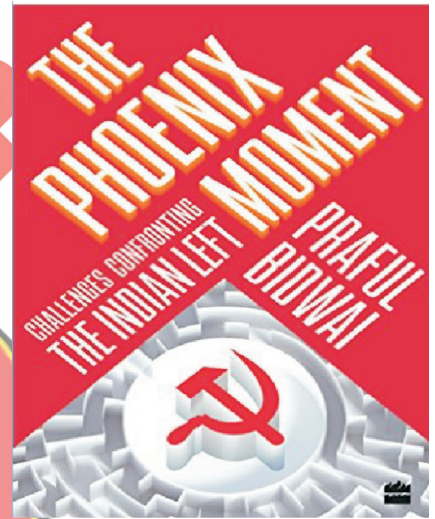
भारत में वामपंथ की 'असफलता' का विश्लेषण अरसे से किया जाता रहा है। 'असफल' शब्द का प्रयोग कुछ लोगों को अटपटा लग सकता है पर तर्कसंगत है, क्योंकि यह बात सोचने लायक है कि भारत जैसे देश में जहां की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा गरीब, उत्पीड़ित और शोषित है क्यों समतावादी विचारधारा का प्रचार करने वाली राजनीतिक पार्टियां लोकप्रियता और चुनावी सफलता हासिल नहीं कर सकी है? भले ही छोटे से बौद्धिक वर्ग में प्रगतिशील साम्यवादी या समाजवादी रुझान के लोग बेहद मुखर असरदार रहे हैं, परंतु वे आम आदमी से कटे-छटे ही रहे हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत की संस्कृति सदा से अहिंसक और शांति प्रेमी रही है, जिस कारण नास्तिक और हिंसक क्रांति के समर्थक साम्यवादी भारत की मिट्टी में अपनी जड़ें नहीं जमा पाए। यही वजह है कि हिंसक साम्यवादी की तुलना में अहिंसक गांधी अधिक लोकप्रिय हैं। दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद गांधी के करिश्माई व्यक्तित्व ने उन्हें कांग्रेस पार्टी का निर्विवाद सर्वोच्च नेता बना दिया और साम्यवादियों के प्रति उनका रवैया विरोध का ही रहा। शायद इस कारण से भी वामपंथी हाशिये पर पहुंच गए। यहां विस्तार से इस गुत्थी को सुलझाने का अवकाश नहीं परन्तु यह रेखांकित

करना जरूरी है कि भारतीय सांस्कृतिक विरासत के अहिंसक और शांति प्रेम होने के बारे में अति सरलीकरण को ना समझी ही कहा जा सकता है। बहरहाल प्रफुल्ल बिदवाई की मरणोपरांत प्रकाशित पुस्तक भारत में वामपंथ के इतिहास और भविष्य के संदर्भ में बेहद विचारोत्तेजक, सारगर्भित और उपयोगी है।

प्रफुल्ल बिदवाई स्वयं वामपंथी विचारधारा के समर्थक थे भले ही वे किसी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य कभी नहीं रहे और ना ही उनके द्वारा प्रायोजित संगठन में शामिल थे। उन्होंने प्रखर पत्रकार के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की और एटमी निःशस्त्रीकरण के ऊपर लिखी उनकी पुस्तकें दुनिया भर में सराही गईं। जो लोग उनके विचारों से सहमत नहीं थे वे भी इसे अस्वीकार नहीं करते कि उनका शोध तटस्थ और निष्कर्ष बेबाक हुआ करते थे। आज के हिन्दुस्तान में-खासकर 2014 के चुनावों के बाद वामपंथी पार्टियों की खस्ता हालत को देखते हुए बिदवाई का खिन्न होना समझ में आता है। न केवल भारत में बल्कि दुनियाभर में आज साम्यवादी विचारधारा का ज्वार भाटे में बदल रहा है। एरिक हॉब्सबॉम जैसे समाजवादी रुझान के लेखक साम्यवाद के देहांत की घोषणा कर चुके हैं। सोवियत संघ का विघटन हो चुका है और चीन ने माओ का रास्ता छोड़ अपना नव पूंजीवादी कायाकल्प आरंभ कर दिया है। पूर्वी यूरोप के देश जो कल तक सोवियत साम्राज्य का हिस्सा थे आज यूरोपीय समुदाय का सदस्य बनने को उतावले हैं। क्यूबा से लेकर वियतनाम

द फिनिक्स मोमेंट

लेखक: प्रफुल्ल बिदवाई



तक सब जगह यही मंजर देखने को मिल रहा है। मगर बिदवाई को ऐसा नहीं लगता कि वामपंथ की निर्णायक हार हो चुकी है। उनका मानना है कि देर-सवेर मिथकीय पक्षी सुर्खाब की तरह (जिसे अंग्रेजी में फिनिक्स कहते हैं), वामपंथ का पुनर्जन्म अपनी राख से ही होगा। इस नतीजे से भले ही सहमत होना सहज नहीं पर इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि भारत में वामपंथ का अध्ययन करने वाले सभी पाठकों के लिए यह रचना एक ऐतिहासिक दस्तावेज है।

पुस्तक के आरंभिक हिस्से में प्रफुल्ल बिदवाई ने उन ऐतिहासिक परिस्थितियों का पुनरावलोकन किया है जिनमें वामपंथी विचार पश्चिम से भारत पहुंचे। मार्क्स द्वारा वैज्ञानिक साम्यवाद के प्रवर्तन के पहले अनेक विचारकों ने अपनी-अपनी तरह से समता पोषक



सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विचारों का प्रतिपादन किया था। इस सोच का जन्म पश्चिमी जगत में खासकर यूरोप में नवजागरण, फ्रांसीसी क्रांति तथा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप हुआ था। जाहिर है कि इन विचारकों की तमाम दार्शनिक अवधारणाएं अर्थव्यवस्था और राजनीतिक प्रणाली के परिवर्तन के लिए सुझाए उनके नुस्खे यूरोप के अनुभव और यथार्थ से ही प्रभावित हैं। भारतीय समाज की जटिल संरचना के बारे में खुद काल मार्क्स की जानकारी भी बहुत सीमित थी।

यहां यह उल्लेखनीय है कि भारत में वामपंथी विचारधारा 20 वीं सदी के दूसरे दशक में ही रूस में बोल्सेविक क्रांति के तत्काल बाद पहुंच चुकी थी। हालांकि इससे प्रभावित तबका बहुत सीमित था। क्रांतिकारी देशभक्त भगत सिंह इसका एक उदाहरण है। उन्होंने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष के लिए अपने संगठन के नाम के साथ सोशलिस्ट शब्द जोड़ा था। इंग्लैण्ड में पढ़ाई के दौरान जवाहरलाल नेहरू भी फेबियन समाजवादियों के संपर्क में आए और वे उम्र भर अपने को समाजवादी ही मानते रहे। रूसी क्रांति के प्रति उनका रवैया सहानुभूतिपूर्ण था। इन सब बातों को देखते हुए यह मानना गलत नहीं होगा कि भारतीय राजनीति में आजादी की लड़ाई तेज होने के साथ-साथ समाजवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ता गया। फिर भी आम आदमी इस विचारधारा से अछूता ही रहा था।

प्रफुल्ल बिदवई ने संक्षेप में ही सही कुछ

उन बातों की ओर हमारा ध्यान फिर से दिलाया है जो अक्सर भुला दी जाती है। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना सन् 1920 में ब्रिटेन में आई.सी.एस. के एक पूर्व सदस्य रजनी पाम दत्त ने की। इस कारण साम्यवादी विचारधारा विदेशी आयात ही बनी रही। यह वह दौर था जब कॉमिन्टर्न साम्यवाद की अन्तर्राष्ट्रीयता पर बल दे रहा था और राष्ट्रवाद की संकीर्णता के ऊपर क्रांतिकारी भाईचारे को वह तरजीह देता था। इन्हीं दिनों भारतीय साम्यवादी एम.एन. रॉय ने लेनिन से मुलाकात की और उनके सामने अपनी एशियाई थिसिस रखी। लेनिन ने एम.एन. रॉय की बुद्धिमत्ता की प्रशंसा तो की परन्तु उनके मत को मुख्य बहस का हिस्सा नहीं बनने दिया। बाद में एम.एन. रॉय ने मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी की नींव रखी। लेनिन की मृत्यु के बाद रूसी कम्युनिस्ट पार्टी में खून-खराबे से भरा सत्ता संघर्ष छिड़ गया और अंततः स्टालिन बड़ी निर्ममता से अपने विरोधियों का सफाया करने के बाद तानाशाह बन बैठा। पार्टी पर उनका एकछत्र आधिपत्य हो गया। एक सच्चाई यह है कि त्राट्स्की और बाकुनिन के उन्मूलन के बाद मार्क्स और लेनिन की विचारधारा को स्टालिन के विकृत साम्यवाद ने विस्थापित कर दिया पर तब भी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का नेतृत्व मॉस्को से मिलने वाले दिशा-निर्देशों के अनुसार ही अपने क्रिया-कलाप संचालित करता रहा। ऐसा नहीं था कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ही केवल इस भ्रम का शिकार थी। बल्कि दुनियाभर के साम्यवादी दल स्टालिन के इशारों पर काम करते थे खासकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का कामकाज ब्रिटेन के बड़े नेताओं के आदेशों के अनुसार ही होता था। इस समय स्पेन में गृहयुद्ध चल रहा था और इटली में फांसीवाद तथा जर्मनी में नाजीवादी विचारधारा का उदय हो रहा था। स्पेन में तानाशाही के विरुद्ध साम्यवादी सक्रिय थे तो इटली और जर्मनी में राष्ट्रवाद और समाजवाद का घालमेल कर लोग-लुभावन नारे गढ़ कर मुसोलिनी और हिटलर असाधारण लोकप्रियता हासिल कर रहे थे। जवाहरलाल नेहरू ने 1930 के दशक के मध्य में रूस और यूरोप के दौरे किए और तानाशाही के बढ़ते

खतरे के संदर्भ में तत्कालीन इटली और जर्मनी के बारे में अनेक आशंकाए व्यक्त कीं। फिर भी यह बात याद दिलाने लायक है कि सोवियत संघ में स्टालिन के अत्याचारों या निरंकुश आचरण के प्रति किसी तरह की चिंता या आशंका मुखर करना उन्होंने जरूरी नहीं समझा।

यह वह दौर था जब भारतीय कांग्रेस पार्टी में दक्षिणपंथी तथा परिवर्तनगामी नौजवानों के बीच जबर्दस्त रस्साकशी चल रही थी। इसी समय नेहरू और उनके युवा तुर्क सहयोगियों ने कांग्रेस पार्टी के भीतर ही कांग्रेस समाजवादी पार्टी नामक धड़े का गठन किया। नेहरू के अलावा जय प्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, नरेन्द्र देव इसके सदस्य थे। बाद में भारतीय कांग्रेस पार्टी के बड़े नेता ई.एम.एस. नाम्बुदरीपाद भी उस वक्त कांग्रेस के ही सदस्य थे। समाजवादी विचारधारा के ही एक ओर तेजस्वी प्रतिनिधि सुभाषचन्द्र बोस थे जो उस वक्त जवाहरलाल नेहरू के अभिन्न मित्र और सहयोगी थे। हरीपुरा कांग्रेस अधिवेशन के समय दो धड़ों की फूट सतह पर आ गई। इस समय महात्मा गांधी के साथ स्नेहवश उनके कामरेडों ने साथ छोड़ दिया। फिर सुभाष को भी कांग्रेस छोड़ने को मजबूर होना पड़ा। इस समय तक भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी एक गैर-कानूनी संगठन थी और अनेक साम्यवादी खुद को समाजवादी के रूप में ही प्रकट करते थे।

तभी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियां नाटकीय ढंग से बदली। द्वितीय विश्वयुद्ध के बादल जैसे ही मंडराने लगे रूस ने नाजी जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण संधि (No Aggression Pact) कर ली। पर जब नाजी सेनाओं ने पोलैण्ड पर कब्जा कर रूस को अपना निशाना बनाया तो उसने साम्राज्यवादियों के साथ बेहिचक गठबंधन कर लिया। इसके बाद 1945 तक सोवियत संघ मित्र राष्ट्रों वाले संयुक्त मोर्चे का ही सदस्य बना रहा। मॉस्को ने दुनियाभर की कम्युनिस्ट पार्टियों को आह्वान किया कि वह संकट की इस घड़ी में साम्यवाद के गढ़ रूस को ही अपनी पितृ भूमि समझे और उसकी रक्षा के लिए एकजुट हो जाएं। ब्रिटेन ने महायुद्ध में रूस को मददगार कबूल करने के बाद

कम्युनिस्ट पार्टी पर लगाया प्रतिबंध भी हटा दिया। यह बात उल्लेखनीय है कि एक लंबी बहस के बाद कांग्रेस ने भी युद्ध के संकट को देखते हुए ब्रिटेन को और संकट में न डालने का निर्णय लिया पर बाद में जब युद्धोपरांत भारत की स्वाधीनता के बारे में उन्हें कोई आश्वासन नहीं मिला तो 1942 में करो या मरो वाले भारत छोड़ो आन्दोलन का विस्फोट हुआ। इन बातों को याद दिलाना इसलिए जरूरी है कि आजादी के बाद के वर्षों में भारत की साम्यवादी पार्टी पर यह लांछन लगाना सहज हुआ कि वह अंग्रेजों का एजेन्ट, पिटू और मौकापरस्त रही हैं। उसने कभी भी भारत की आजादी की लड़ाई में जी-जान से हिस्सा नहीं लिया बल्कि सोवियत संघ के स्वार्थों की रक्षा के लिए या ब्रिटेन की सामरिक हितों के दबाव में देशभक्ति का दिखावा भर किया है। जब कांग्रेस के अनेक नेता और कार्यकर्ता 1942 के बाद जेलों में भर दिए गए तब कम्युनिस्ट पार्टी को जनता के बीच काम करने का बहुत अच्छा मौका मिल गया। फैक्ट्रियों की ट्रेड यूनियन हो या देहाती इलाकों में किसान सभाएं जहां-जहां कांग्रेस ने स्थान रिक्त किया था वहां साम्यवादियों ने रिक्त स्थान की पूर्ति की। इस पूरे दौर में वामपंथी विचारधारा का पर्याय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ही थी। इसके महासचिव पी.सी. जोशी ने इप्टा जैसे संगठन के जरिए लेखकों, कलाकारों और अभिनेताओं को अपने-अपने तरीके से जनमानस को समतापूर्ण जीवन के लिए संघर्ष के लिए तैयार करने का काम सौंपा। उन्हें इस काम में बड़े हद तक कामयाबी भी मिली। जोशी के कम्यून में उस समय जो कलाकार जुड़े उनमें से कुछ अभी हाल तक फिल्म जगत में सक्रिय रहे हैं। प्रेमचन्द, कैफी आज़मी, सरदार जाफरी, बलराज सहानी, सुल्तानपुरी, इस्मत चुकताई जैसे नाम इप्टा की सदस्य सूची में हैं। बंगाली नाटककार बिजोन घोस का नाटक नवान्न बेहद चर्चित रहा। कुछ वैसे ही जैसे दो बीघा जमीन और नीचा शहर जैसी फिल्मों। जिनके साथ वामपंथी विचारधारा वाले लेखक और कलाकार जुड़े थे। इप्टा के जोशीले नौजवान सांस्कृतिक जत्थे बना जनता के बीच वामपंथी विचारधारा का प्रचार करते थे और

धीरे-धीरे इनका प्रभाव बढ़ रहा था।

देश के विभाजन ने फिर एक बार हालात अचानक बदल डाले। 1945 में महायुद्ध समाप्त होने के साथ ही शीतयुद्ध का सूत्रपात हो गया। कल तक एक ही शत्रु के खिलाफ लड़ने वाले अमेरिका और सोवियत संघ एक-दूसरे के जानलेवा शत्रु बन गए। एटमी हथियारों के प्रयोग के बाद 'शक्ति के संतुलन' का स्थान 'आतंक के संतुलन' ने ले लिया और दुनियाभर के लोगों के दिल और दिमाग ने जीतने के लिए विचारधारा के अस्त्र को सबसे महत्वपूर्ण समझा गया। आजादी के बाद भारत में शीतयुद्ध में तटस्थ रहने का फैसला किया और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की नींव रखी। अपने आर्थिक विकास के लिए उसने मिश्रित अर्थव्यवस्था को चुना जिसमें पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों का ही समावेश करने का प्रयास किया गया था। नतीजा यह हुआ कि नेहरू के भारत को न तो अमेरिका अपना मित्र समझा था और नहीं स्टालिन। आजादी के बाद भारत में जो पहले चुनाव हुए उनमें भले कम्युनिस्ट पार्टी कांग्रेस के बाद सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर आई, परन्तु उनका संख्या बल इतना नहीं था कि उसे औपचारिक रूप से विपक्षी दल की हैसियत मिल सकती। इन बातों के अतिरिक्त दो और बातों का उल्लेख यहां बेहद जरूरी है। जिस समय दूसरा महायुद्ध लड़ा जा रहा था तथा चीन एक रक्तरेजित गृहयुद्ध से लहलुहान हो रहा था, एक गरीब और ग्रामीण समाज में क्रांति की एक नई रणनीति की स्थापना माओ ने की। यह गांव द्वारा शहरों को घेरने की और छापामारी द्वारा सत्ता को हथियाने की। इसमें उस मार्क्सवादी-लेनिनवादी विचारधारा को शीर्षासन करवाता दिखाया जाता था, जिसमें क्रांति में सबसे अहम भूमिका साम्यवादी पार्टी की ही मानी जा रही थी। सामान्य धारणा यह थी कि श्रमिकों और सर्वाहारा वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में क्रांतिकारी घटनाक्रम को अंजाम दे सकती थी। जैसा पहले कहा जा चुका है कि मार्क्सवादी-साम्यवादी-समाजवादी पश्चिमी विचारधारा यूरोप के अनुभव और यथार्थ पर ही आधारित थी और इसी के अनुसार विकसित

होती रही थी। भले ही स्वयं रूस में बोल्सेविक क्रांति एक गुप्त षडयंत्र के बाद तख्ता पलट से हुई थी और किसी बड़ी हड़ताल ने इसका सूत्रपात नहीं किया था, तब भी मार्क्सवादी-लेनिनवादी कम्युनिस्ट इसे ही एक शाश्वत वैज्ञानिक सिद्धांत की तरह प्रतिपादित करते रहे थे। परन्तु 1949 में चीनी में माओवादी क्रांति की सफलता के बाद भारतीय साम्यवादी इस बारे में पुनर्विचार के लिए प्रेरित हुए।

प्रफुल्ल बिदवई की किताब का महत्व सिर्फ ऐतिहासिक सामग्री को एक जगह सुलभ कराने तक सीमित नहीं। आजादी के बाद नेहरू के कार्यकाल में कम्युनिस्टों के अनुभव का बहुत बेहतर विश्लेषण भी यहां प्रस्तुत किया गया है। 1947 में तत्कालीन हैदराबाद राज्य के तेलंगाना क्षेत्र में कम्युनिस्टों ने एक सशस्त्र आन्दोलन शुरू किया। परन्तु बर्बरता से उसका दमन किया गया। इसके बाद कुछ समय के लिए भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा दिया गया। अतः वामपंथियों को यह कहने का मौका मिला कि खुद को समाजवादी कहने वाले नेहरू वास्तव में कितने प्रतिक्रियावादी और बड़े जमींदारों के संरक्षक हैं। बहरहाल यह स्थिति दशक समाप्त होते-होते काफी हद तक बदल चुकी थी। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी पर लगाया प्रतिबंध हटा दिया गया और 1957 के चुनावों में बहुमत प्राप्त करने के बाद केरल में साम्यवादियों ने अपनी सरकार बनाई। तब यह विश्व में यह अकेला ऐसा उदाहरण था जब साम्यवादियों ने अहिंसक मार्ग से मतदान के जरिए सत्ता ग्रहण की। कई राजनीतिक पंडितों का मानना था कि भविष्य में देश के अन्य राज्यों में भी साम्यवादी इसी तरीके से अपनी सरकार बना सकते हैं। कांग्रेस के लिए यह स्थिति चिंताजनक थी यह एक महत्वपूर्ण कारण था कि दो साल पूरा होने के पहले ही केन्द्र सरकार ने विधानसभा भंग कर केरल में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। उस समय कांग्रेस के अध्यक्ष नेहरू की पुत्री इंदिरा गांधी थी और ऐसा माना जाता है कि उन्हीं की सलाह पर नेहरू इसके लिए राजी हुए थे। आज इतने समय बाद तटस्थ मूल्यांकन करते वक्त यह कहा जा सकता है

कि निश्चय ही यह कदम जनतांत्रिक नहीं था और इसने असंवैधानिक तरीके से वामपंथी प्रतिपक्ष की भ्रूण हत्या की।

1959 तक भारत और चीन के बीच सीमा विवाद गंभीर रूप ले चुका था। भले ही युद्ध का विस्फोट 1962 में हुआ चीन को लेकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी में मतभेद शीघ्र ही सतह पर आने लगे। जो लोग भारतीय परिस्थिति में चीनी विकल्प के समर्थक थे वे अपने उन साथियों को संशोधनवादी और प्रतिक्रियावादी कहने लगे जो भारतीय और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रूसी विश्लेषण को आंख मूंद कर स्वीकार करते थे। 1960 में 20वीं सोवियत पार्टी कांग्रेस के समय रूसी नेता खुश्चेव ने इस बात को जग जाहिर किया था कि स्टालिन के शासनकाल में सोवियत संघ ने साम्यवाद का मार्ग छोड़ दिया था और व्यक्ति पूजक तानाशाही को प्रोत्साहित किया था। उस काल में समाजवाद के इस गढ़ में नागरिक के बुनियादी अधिकारों का निरंतर उल्लंघन हुआ था और विदेशी (भारतीय समेत) साम्यवादी पार्टियों को अनेक ऐसे दिशा निर्देश दिए गए थे जो न तो राष्ट्रहित में थे और न ही साम्यवादी विश्व के हित में। यह बहस गर्म होती गई और अंततः इसके परिणाम स्वरूप भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का विभाजन हो गया। चीनी विचारधारा की पक्षधर कम्युनिस्ट पार्टी सी.पी.आई.एम. कहलाई और दूसरा धड़ा सी.पी.आई. बना रहा।

इस समय भारत भी राजनीति उथल-पुथल की दौर से गुजर रहा था। जवाहरलाल नेहरू के देहांत के बाद कांग्रेस पार्टी में नेतृत्व की लड़ाई शुरू हो चुकी थी। एक छोटे से अन्तराल के बाद जिसमें लाल बहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री पद पर रहे, कांग्रेस के बुजुर्ग दक्षिणपंथी नेताओं और नेहरू की पुत्री इंदिरा के बीच मुठभेड़ आरंभ होगी। अंततः कांग्रेस विभाजित हो गई। कांग्रेस के दो धड़े सिंडिकेट और इंडिकेट नाम से पहचाने जाने लगे। कुछ समय बाद श्रीमती गांधी ने कांग्रेस के अल्पमत होने के बावजूद केंद्र में सरकार का गठन किया। वह ऐसा सिर्फ इसलिए कर सकी कि भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के सांसदों का

समर्थन उन्हें प्राप्त हो सका। सी.पी.आई. को इंदिरा के पक्ष में करने के लिए जिन नेताओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई उनमें मोहन कुमार मंगलम प्रमुख थे। श्रीमती गांधी के निजी सचिव विदेश सेवा के पूर्व अधिकारी पी.एन. हक्सर स्वयं अपने छात्र जीवन में ब्रिटेन में कांग्रेस पार्टी के सदस्य रह चुके थे। खुद को अपने पिता की समाजवादी विरासत का उत्तराधिकारी घोषित कहना इंदिरा के लिए सहज था। इसलिए साम्यवादी रुझान के सय्यद नुरुल हसन जैसे मंत्री को शिक्षा मंत्रालय का कार्यभार सौंपा गया। इन वर्षों में वामपंथी विचारधारा भारतीय राजनीति में निरंतर प्रभावशाली बनती रही। प्रफुल्ल बिदवई ने बड़े तटस्थ भाव से इस बात को स्वीकार किया है कि यह सफलता मार्क्सवादियों-वामपंथियों द्वारा जमीनी स्तर पर काम करने के कारण अथवा ट्रेड यूनियन के संगठन कौशल के कारण नहीं बल्कि इंदिरा सरकार के संरक्षण के कारण संभव हुई थी।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को इस समय एक अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सीमकरण का भी अनायास लाभ मिलता रहा। इंदिरा गांधी के शासनकाल में भारत सरकार और सोवियत संघ के रिश्ते लगातार घनिष्ठ होते गए। इस समय अनेक माध्यमों से सोवियत संघ द्वारा बड़े पैमाने पर धनराशि का हस्तांतरण भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी को किया जा सका। जिससे वह दूसरे वामपंथियों की तुलना में कहीं अधिक साधन सम्पन्न हो गई। श्रीमती गांधी के मंत्रिपरिषद में भी हेमवती नंदन बहुगुणा और केवशदेव मालवीय जैसे मंत्री थे जिन्हें सोवियत संघ का मित्र और साम्यवादियों का सहयात्री समझा जाता था। प्रफुल्ल भले ही विस्तार से यह खुलासा नहीं करते पर तब भी जिस पृष्ठभूमि को एक व्यापक फलक में वह उकेरते हैं उससे यह बात छुपी नहीं रहती कि भारतीय वामपंथ शायद सरकारी समर्थन के कारण सुविधाभोगी बनता गया और जनता के संघर्ष से निरंतर कटता गया। 1968 में सोवियत सेना ने चेकोस्लोवाकिया में निर्लज्ज हस्तक्षेप किया जिससे अनेक संवेदनशील भारतीय साम्यवादियों का मोहभंग हुआ। ब्रेझनेव ने इसी

समय सोवियत संघ के सहयोगी उपग्रह प्रदेशों की सीमित संप्रभुता के सिद्धांत का आंख मूंदकर समर्थन किया। दूसरी तरफ सोवियत संघ की नीति का समर्थन करना भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की विवशता बन गई। उसकी जुझारु धार पूरी तरह कुंद नज़र आने लगी।

इसी समय कम्युनिस्ट जगत में एक और भूचाल आया। माओ ने चीन में महान सांस्कृतिक क्रांति का बिगुल बजाया और निरंतर क्रांति द्वारा विचारधारा और कर्म को प्रदूषित होने से बचाने पर ज़ोर दिया। उन्होंने सोवियत संघ को संशोधनवादी, प्रतिक्रियावादी राष्ट्र घोषित कर दिया। इस समय शीतयुद्ध में तनाव शैथिल्य की बात होने लगी थी और कट्टरवामपंथियों को यह लगाने लगा था कि वामपंथी विचारधारा के वाहक मार्क्सवादी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी वाले ही हो सकते हैं। विडंबना यह थी कि सी.पी.आई.एम. में भी असन्तुष्ट तत्वों की कमी नहीं थी। चारू मजूमदार और कानू सान्याल के नेतृत्व में कुछ अतिवामपंथी पार्टी के सदस्यों ने माओ की देखा-देखी भारत में भी सशस्त्र छापामारी का मार्ग चुन लिया। 1969 में पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी इलाके में वर्ग शत्रुओं के संहार के बहाने खून-खराबा शुरू हो गया। कुछ ऐसी ही वारदातें आन्ध्र प्रदेश के सिरकाकुलम जिले में नागभूषण पटनायक के नेतृत्व में हुईं। धीरे-धीरे नक्सलवादी, माओवादी विचारधारा नौजवानों में लोकप्रिय होने लगी और कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज और जादवपुर विश्वविद्यालय के अनेक होनहार छात्र नक्सलवादी लड़ाकू दस्तों में शामिल हो जंगल देहात में जा छिपे। इस पुस्तक में इस प्रसंग को नाममात्र के लिए ही छुआ गया है, क्योंकि बिदवई ने अपनी पुस्तक की भूमिका में यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका विषय संगठित वामपंथ अर्थात् राजनीतिक दलों तक ही सीमित है। नक्सलवादियों के एक हिस्से का राजनीतिक दल के रूप में कायाकल्प कई वर्ष बाद हुआ। अतः उन्होंने इसका विस्तार से विश्लेषण नहीं किया है। परन्तु इस बात को नज़रदांज करना ठीक नहीं कि नक्सलवाद के उदय के कारण

भारत में वामपंथ की धारा थोड़ी देर के लिए अवरूद्ध हुई और सूखती ही गई। जहां एक ओर नक्सलवादी सैद्धांतिक बहस में उलझे रहे। वहीं दूसरी ओर जानमाल असमंजस की स्थिति में बने रहे।

प्रफुल्ल बिदवई विदेश में पढ़े-लिखे और यूरोपीय साम्यवाद की विविध चिंतन धाराओं से अपने सोच को संपन्न करते रहे हैं। अतः इस किताब में भारतीय वामपंथ का विश्लेषण करते वक्त यत्र-तत्र कहीं क्यूबा कहीं चिली, कही फ्रांस, जर्मनी या इटली के साम्यवादी सोच का प्रभाव दिखलाई देता है। उन्हें इस बात का संतोष है कि भारतीय साम्यवादी-वामपंथी सैद्धांतिक बहस को अहमियत नहीं देते और वस्तुपरक विश्लेषण के अभाव में क्रांतिकारी रणनीति का निर्धारण करने में अक्षम रहते हैं। इन पंक्तियों के लेखक का मानना है कि अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष में भारतीय वामपंथ और साम्यवाद का मूल्यांकन करते प्रफुल्ल कही असंतुलित हो जाते हैं। भारत की तुलना चकोस्लोवाकिया, चिली, क्यूबा, हंगरी या पॉलैण्ड से नहीं की जा सकती। पता नहीं क्यों लेखक ने भारतीय साम्यवाद के इतिहास के उस अध्याय पर अपनी पैनी नज़र नहीं टिकाई है जब कोमरेड रणदिवे और कोमरेड पी.सी. जोशी के बीच बहस छिड़ी थी। अंततः रणदिवे लाइन की विजय हुई (जो बाद में गलत साबित हुई) और जोशी को हाशिए पर जाना पड़ा। इसीबात का पता नहीं क्यों शायद जानबूझ कर ही बिदवई ने अनदेखा कर दिया है कि भारतीय साम्यवादी-वामपंथी चिंतकों में मौलिक सोच का अभाव रहा है और वह नई लाइन के लिए कभी रूस कभी चीन तो कभी यूरोप की तरफ देखते हैं या उन पुरानी बहसों को फिर से गर्माने की कोशिश करते हैं जो 1960 के दशक में ज्वलंत थी।

बिदवई की पुस्तक में एक और बात सामने आई है वह यह कि क्यों तीन दशक से भी अधिक समय तक पश्चिम बंगाल में सरकार चलाने के बाद भी मार्क्सवादी-कम्युनिस्ट पार्टी को अंततः करारी चुनावी हार का सामना करना पड़ा? क्यों चुनावी हार के पहले भी स्वयं उसके समर्थकों को

नंदीग्राम और सिंहभूमि की घटनाओं से ऐसा लगने लगा था कि उनकी पार्टी अब पूंजिपतियों का समर्थक बनने लगी है। क्या पश्चिम बंगाल में सरकारी भ्रष्टाचार और साम्यवादी नेताओं द्वारा अंधविश्वासी धार्मिक अनुष्ठानों में हिस्सेदारी ने भी पार्टी की छवि धूमिल की? इन सवालों के जवाब देने की जरूरत शायद बिदवई इसलिए महसूस नहीं करते कि उन्हें लगता है यह सब को पता है। जिस बात का उल्लेख करने से वह बच नहीं सकते वह यह है कि स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी मार्क्सिस्ट में दो धड़े हैं जो पिछले 3 दशक से एक-दूसरे के प्रतिद्वंद्वी के रूप में काम कर रहे हैं। एक केरला खेमा है तो दूसरा पश्चिम बंगाल खेमा। जब तक इ.एम. एस. नाम्बूदरीपाद जीवित और सक्रिय थे तब तक यह फूट सामने सतह पर नहीं आई थी। बाद में कुछ समय तक ज्योति बसु को निर्विवाद रूप से नेता नंबर एक माना गया पर जल्द ही अन्य बुजुर्ग कद्दावर नेता उनसे स्पर्धा करते नज़र आने लगे। जिस समय केन्द्र में साझा सरकार के गठन की पेशकश के वक्त भाजपा से इतर सभी विपक्षी दलों ने निर्विवाद रूप से एकमत से प्रधानमंत्री पद के लिए ज्योति बसु का नाम सुझाया उस समय उन्हीं की पार्टी ने उन्हें यह पद स्वीकार नहीं करने दिया। बाद में स्वयं ज्योति बसु ने इसे 'एक हिमालय से भी बड़ी गलती' (Himalyan Blunder) का नाम दिया। अधिकांश विद्वानों का मानना है कि ज्योति बसु को प्रधानमंत्री न बनने देने की रणनीति पंजाब के हर किशन सिंह सोढी और प्रकाश करत ने रची थी जिनको केरल खेमे का समर्थन प्राप्त था।

पिछले 15-20 वर्षों में ज्योति बसु के अवकाश ग्रहण करने के बाद केरल खेमे और पश्चिम बंगाल खेमे के बीच रस्साकशी निरंतर चलती रही है। केरल खेमे का समर्थन 3 सत्र तक महासचिव रहे प्रकाश करत को मिलता रहा है और पश्चिम बंगाल खेमे का समर्थन उन्हीं के समकालीन और जे.एन.यू. में सहपाठी आन्ध्रप्रदेश के सीताराम येचुरी को। प्रकाश करत की छवि कट्टरपंथी स्टालिनवादी असहिष्णु नेता वाली है तो सीताराम की सहज

समझौता पसंद सुलह संवाद से काम निकालने वाले व्यावहारिक प्रबंधक की।

इस समय भारतीय वामपंथ के सामने एक बड़ी चुनौती नौजवान नेताओं के नेतृत्व के हस्तांतरण की है। प्रकाश करत के बाद उन से कुछ कम उम्र के सीताराम येचुरी को कमान सौंपना इसी बात का संदेश देता है कि अनुभवी बुजुर्ग पुरानी पीढ़ी के नेता 21वीं सदी की चुनौतियों का सामना करने लायक भी नहीं समझे जा रहे। केरल में अच्युतानंद अकेले ऐसे नेता रहे जिन्होंने भ्रष्टाचार मुक्त सैद्धांतिक और जनता से जुड़े कर्मठ साम्यवादी के रूप में पार्टी को दिशा-निर्देश दिया पर अपनी उम्र और राष्ट्रीय स्तर पर अनुभव के अभाव में वे शिखर तक पहुंचने में असमर्थ रहे। यह बात भी ध्यान दिलाने लायक है कि केरल में सत्ता में बने रहने के लिए साम्यवादियों ने कई ऐसे समझौते किए हैं जिनको तर्क संगत ठहराना असंभव है। इनमें साम्प्रदायिक मुस्लिम लीग और भ्रष्टाचार से ग्रस्त कांग्रेस के साथ हाथ मिलाना प्रमुख है।

जब प्रफुल्ल बिदवई यह आशा मुखरित करते हैं कि यदि वामपंथ अतीत से सबक ले तो सुरखांब की तरह अपनी राख से उसका पुनर्जन्म हो सकता है। तब ऐसा लगता है कि उनका भावुक हृदय उनके तार्किक मस्तिष्क पर हावी हो रहा है, जो काम भारतीय वामपंथ लगभग सौ वर्षों में नहीं कर सका वह एक करारी चुनावी हार के सबक से कैसे कर सकता है?

■■■

पुस्तक समीक्षा

BOOK
REVIEW

- पुष्पेश पंत

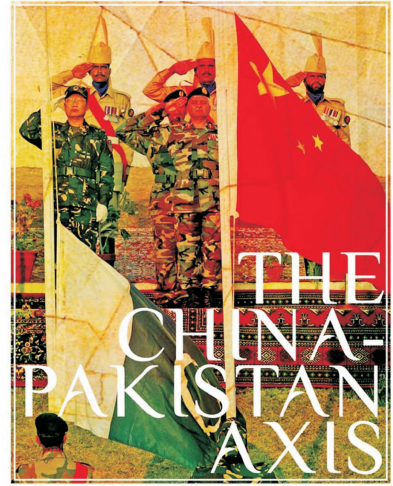
20वीं सदी के मध्य से ही पाकिस्तान और चीन के संबंध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में बेहद संवेदनशील और महत्वपूर्ण समझे जाते रहे हैं। अक्सर इनका वर्णन एक ऐसी धुरी के रूप में किया जाता है जो शीत युद्ध के उतार-चढ़ाव के बावजूद अपनी हस्ती बरकरार रख सकी है। विडंबना यह है कि पाकिस्तान अपने जन्म से ही अमेरिकी पूंजीवादी खेमे का मित्र रहा है जिसने बेहिचक अमेरिका द्वारा प्रायोजित सी.ए. टो और सैन्टो जैसे सैनिक संगठनों की सदस्यता स्वीकार की है। इसके अलावा खुद पाकिस्तान की स्थापना धर्म पर आधारित राज्य के रूप में हुई है। यह तमाम बातें उसे चीन का मित्र नहीं बैरी बनाने के लिए ही तर्क संगत जान पड़ती है। 1949 में माओवादी क्रांति के बाद जिस नये चीन ने जन्म लिया उसका मूल संस्कार कट्टर साम्यवादी था और वह शुरू के दौर में सोवियत संघ का मित्र राष्ट्र था, उसी साम्यवादी खेमे का सदस्य जिसके खिलाफ अमेरिकी शीत युद्ध के दौर में सैनिक संधि संगठनों की स्थापना कर रहे थे। साम्यवादी चीन की राजनैतिक प्रणाली नास्तिक ही कही जा सकती है अतः पाकिस्तान और चीन की मित्रता आसानी से समझी नहीं जा सकती और नहीं इसे स्वाभाविक कह सकते हैं। यही

दि चाइना पाकिस्तान एक्सिस: एशियाज न्यू जियोपॉलिटिक्स

लेखक: एन्ड्रू स्मॉल

एन्ड्रू स्मॉल की पुस्तक का उप शीर्षक उपयोगी साबित होता है। कुल मिलाकर लेखक यह बात बिल्कुल आरंभ में स्पष्ट कर देता है कि असली मुद्दा भू-राजनैतिक है।

जहां तक भू-राजनीति का सवाल है एशिया में बाहरी औपनिवेशिक ताकतों का प्रवेश और उनके क्रियाकलाप कुछ ऐसी स्थापनाओं के आधार पर ही सदियों से संचालित होते रहे हैं जो भूगोल और राजनीति को जुड़वा मानते हैं। यूरोपीय ताकतों का मानना है कि रूस की महत्वाकांक्षा सदियों से अपने दक्षिण की ओर गरम जल वाले सागर तक पहुंचने की रही है और इसी तरह भले ही दुनिया की सबसे बड़ी आबादी वाला देश चीन खुद एक अभेद्य दीवार का निर्माण कर विदेशियों को बाहर रखना चाहता है उसका मानना है कि उसके विशाल भू-भाग से संलग्न प्रदेश उसी का प्रभाव क्षेत्र समझा जाना चाहिए। चीन के शासकों के अनुसार- चाहे वह साम्राज्यवादी हो अथवा साम्यवादी वह हजारों वर्ष पुरानी सभ्यता के वारिस है और उनकी तुलना में पड़ोसी हो या दूर-दराज के विदेशी। बर्बर और असभ्य ही समझे जा सकते हैं। रूस की तरह चीन की समस्या भी इस प्रभाव क्षेत्र पर अपना आधिपत्य बनाए रखने के लिए ताकतवर स्थल सेना के साथ-साथ सक्षम नौ-सैनिक शक्ति के निर्माण की है। भले ही चीन का बड़ा भाग सागर तटवर्ती है पर

*Asia's New Geopolitics*

ANDREW SMALL

उसके लिए भी हर मौसम में गर्म सागर तक पहुंचना एक चुनौती रहा है।

यहां एक ओर बात की ओर ध्यान दिलाने की जरूरत है। सैकड़ों वर्ष से चीन का घनिष्ठ नाता रेशम राजमार्ग के जरिए उस इलाके के साथ रहा है जहां आज मध्य एशियाई गणराज्य कजाकिस्तान, तुर्कमेनिस्तान, उज्बेकिस्तान और अजरबैजान नक्शे पर नज़र आते हैं। मजेदार बात यह है कि यह रेशम राजमार्ग कोई एक बड़ा राजपथ नहीं था बल्कि तिब्बत के दुर्गम पठार को छूता तक्ला माकन के जानलेवा रेगिस्तान को पार करता तुर्की तक पहुंचने वाली एक नदी के समान था जिसकी अनेक

सहायक नदिया उपजल धाराओं के रूप में इसमें मिलती थी अर्थात एक नहीं अनेक छोटे-बड़े रेशम राजमार्ग थे जिन पर आने-जाने वाले कारवाह सिर्फ रेशम का व्यापार नहीं करते थे इनके जरिए विचारों का आदान-प्रदान भी होता था कलाकार और शिल्पकार एक-दूसरे से सीखते-सीखाते थे और इसी पथ पर दुस्साहसिक सैनिक अपने अभियानों का संचालित करते थे। बौद्ध धर्म का प्रसार इसका सिर्फ एक उदाहरण है और यह रेखांकित किया जाना जरूरी है कि यूरोपीय उपनिवेशवाद के प्रसार के पहले इस्लाम के उत्कर्ष के दौर में कभी चीन की पश्चिमी सरहद से लेकर यूरोप में स्पेन तक इस्लामी साम्राज्यवाद का पंचम लहराता था। इस पूरे भू-भाग में हिन्दु-बौद्ध, इस्लामी और स्थानीय खानाबदोश परम्पराओं का अद्भुत मिश्रण देखने को मिलता है। इससे यह नतीजा नहीं निकाला जा सकता कि इस पूरे भौगोलिक क्षेत्र में हमेशा ही चीन का एकछत्र आधिपत्य रहा है। चीनी साम्राज्य की राजधानी का प्रभुत्व सीमावर्ती इलाके में अधिकतर नाममात्र का ही रहता था। सम्राट का नजराना देने के बाद सामंत लोग लगभग कमोबेश स्वाधीन ही रहते थे। चीनी साम्राज्य की ताकत घटने के साथ और क्रमशः (यूरोपीयों के आगमन के बाद) यह पूरा इलाका जहाँ आबादी का घनत्व काफी कम है लगभग अज्ञात संसार जिसे अंग्रेजी में टैरा इनकॉगनिटा कहते हैं समझा जाता रहा है। कुल मिला कर मध्य एशियाई भू-राजनीति में 19 वीं तथा 20 वीं सदी में असली प्रतिद्वंद्विता रूसी और बर्तानवी साम्राज्य के बीच ही जारी रही जिसे ग्रेट गेम का नाम दिया गया। इस पुस्तक के उप-शीर्षक में एशिया की 'नई' भू-राजनीति का उल्लेख किया गया है। जिसका मतलब यह है कि आज की भू-राजनीति में मुख्य पात्र बदल चुके हैं जमीन वही है पर शक्ति-समीकरणों को बदलने के लिए रस्साकशी ब्रिटेन और रूस के प्रति नहीं बल्कि चीन और अमेरिका के बीच चल रही

है। विडंबना यह है कि अमेरिका जो द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तक एशिया में खुद मौजूद नहीं था, 20 वीं सदी के मध्य से अपने कठपुतले-मुहरों के जरिए यहां निरंतर उपस्थित रहा है।

जो बात याद रखने लायक है वह यह कि आज की भू-राजनीति में पाकिस्तान का अपना अलग स्थान है और उसे सिर्फ अमेरिका का बगल-बच्चा समझना ना समझी होगा। चीन के लिए अपने भू-राजनैतिक हितों की रक्षा के लिए पाकिस्तान की खास अहमियत है और यदि 1970 वाले दशक में अमेरिका के साथ उसके राजनयिक संबंधों में सुधार न भी हुआ होता तब भी उसके लिए यह दोस्ती अनमोल होती। कुछ विशेषज्ञ यह सुझाते रहे हैं कि पाकिस्तान के साथ चीन का करीबी रिश्ता भारत पर अंकुश लगाने के लिए बेहद जरूरी है। हमारी समझ में यह बात अंशतः ही तर्क संगत है। ऊपर जिस ज़मीनी हकीकत का उल्लेख विस्तार से किया गया है उसके अनुसार यदि भारत का विभाजन न भी होता तब भी चीन के लिए बरास्ता ईरान-अफगानिस्तान, पाकिस्तान के बंदरगाहों तक पहुंचना सामरिक दृष्टि महत्वपूर्ण रहता क्योंकि, रूस तथा अन्य मध्य एशियाई राज्यों के अलावा अरब जगत और अफ्रीका के पूर्वी तट तक अपनी पहुंच और प्रभाव बनाने के लिए यह बेहद जरूरी है। कुछ वैसे ही जैसे दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में असरदार बने रहने के लिए म्यांमार और श्रीलंका में चीन की उपस्थिति अनिवार्य है। हां, यह संयोग नहीं कि इस अभियान में अनायास ही भारत की नाक में भी नकल कसी जा सकती है।

एन्ड्रयू स्मॉल ने चीन-पाकिस्तान धुरी के निर्माण का अध्ययन 1965 वाले भारत-पाक युद्ध से किया है पर 1962 के भारत-चीन सैनिक संघर्ष को वह अनावश्यक तूल नहीं देते। वास्तव में 1965 में इन्डोनेशिया में रक्तरंजित तख्ता पलट के बाद चीन विरोधी साम्प्रदायिक दंगे भड़के थे और इन्डोनेशिया

की कम्यूनिस्ट पार्टी जो चीनी कम्यूनिस्ट पार्टी के आदेशानुसार काम करती थी निस्तनाबूद हो गई। इसी वर्ष अमेरिकियों ने वियतनाम युद्ध में अपने हमलों को तेज कर दिया था। सैनिक बल प्रयोग को निरंतर बढ़ाने वाली इस रणनीति को एसक्लेशन का नाम दिया गया और इसका एक मकसद चीन पर दबाव डालना था। इन्हीं वर्षों में माओवादी चीन और खुश्चेव के संशोधनवादी सोवियत संघ के बीच गहरा वमनस बढ़ने लगा। भले ही विस्फोट 1969 में जाकर हुआ चीन ने अपने को निरापद रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर नये रिश्ते जोड़ना आरंभ कर दिया था। भारत विरोधी पिंडी-पीकिंग-जर्कारता धुरी तो 1965 के पहले ही बन चुकी थी पर इन्डोनेशिया में उथल-पुथल के बाद चीन की नज़र में पाकिस्तान की अहमियत पहले से कही अधिक बढ़ गई और इसी के अनुसार 1971 में बांग्लादेश मुक्ति अभियान के दौरान पाकिस्तान के साथ चीन की दोस्ती और गहरी हुई। लेखक के अनुसार चीनी पाकिस्तानी धुरी का निर्माण 1965 और 1971 के युद्धों में हुआ। जाहिर है कि अमेरिका इसमें हाशिए पर ही रहा। अमेरिका ने भारत पर सीधे दबाव डालने की कोशिश की और रणक्षेत्र में पाकिस्तान की शर्मनाक हार के बाद उसे अपनी सीमा स्वीकार करने को मजबूर होना पड़ा। चीन के लिए ऐसी कोई मजबूरी नहीं थी वह बड़े कौशल के साथ इस काम में जुट गया कि खुद को पराजित और आहत पाकिस्तान का हमदर्द साबित कर अपने भू-राजनैतिक हितों को साध सके।

अगर इस काम में चीन को अप्रत्याशित सफलता मिली तो उसका एक बड़ा कारण यह था कि 1971 की जीत के बाद भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी का आत्मविश्वास कई गुना बढ़ गया और कुछ ही वर्ष बाद उन्होंने पोखरण में सफल परमाणु विस्फोट का प्रयोग किया। भले ही भारत का दांवा यह था कि उसने यह परीक्षण परमाणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग के

लिए ही किया है। पाकिस्तान की यह आशंका स्वाभाविक थी कि भारत ने यह काम एटमी हथियार जुटाने के लिए किया है ताकि वह पाकिस्तान को दबा-कुचल कर रख सकें। उसी समय भुट्टो ने यह सौगंध खाई थी कि भले ही पाकिस्तानियों को घास खानी पड़े वह भी एटम बम बनाकर रहेंगे। पाकिस्तान के परमाणविक कार्यक्रम को निरंतर सहायता देने के कारण चीन और पाकिस्तान एक-दूसरे के और भी करीब आ गए।

एक बार पाकिस्तान ने यह तय कर लिया कि वह अमेरिका से कही अधिक भरोसा चीन पर कर सकता है तब उसके लिए भारत की बराबरी करने का सपना सच होता नज़र आने लगा। अमेरिकी राष्ट्रपति ओबामा ने कई दशक बाद अफ-पाक मुहावरे का प्रयोग किया हो अमेरिकी प्रशासन भारत-पाक की बेसुरी जुगलबंदी अपने जडाली है कि अफगानिस्तान हो या पाकिस्तान यहां शांति-सुव्यवस्था और राजनैतिक स्थिरता चीन के हित में नहीं क्योंकि, यदि ऐसा होता है तो अमेरिका को यहां अपने पैर जमाने का अच्छा मौका मिल जाएगा जिसके बाद वह चीन के साथ प्रतिद्वंद्विता या स्पर्धा की बात सोच सकता है। हाल-फिलहाल भले ही इस इलाके में अमेरिका को अपने सामरिक हितों का सन्नीपात चीन के साथ महसूस हो रहा हो, विश्वभर में अन्यत्र इन दोनों के राष्ट्रीय हितों का टकराव निकट भविष्य में दूर होने वाला नहीं। जापान और दक्षिणी कोरिया हो या साउथ चाईना सी में वियतनाम और फिलिपीन्स-अमेरिका के मित्र देशों पर चीन का दबाव आक्रामक रूप से बढ़ रहा है। ऊर्जा सुरक्षा हो या खाद्य सुरक्षा चीन की जरूरते इतनी विराट है कि अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अमेरिका तक के ठिकाने उसे आकर्षक लगते हैं। पुतिन के शासनाधीन रूस के साथ अमेरिकी मन-मुटाव अक्सर मुठभेड़ की कगार तक पहुंच चुका है पर अमेरिका यह भरोसा नहीं कर सकता कि रूस को

संयमित-सीमित करने के लिए वह चीन को मददगार समझ सकता है। साइबेरिया प्रांत में चीन गैस के जो विराट भण्डार हैं उनके मद्दे नज़र निकटवर्ती चीन जो जरूरतमंद भी है सबसे अच्छा ग्राहक सिद्ध हो सकता है। इस बात का जिक्र विस्तार से इसलिए जरूरी है कि यह बात अच्छी तरह समझी जा सकी कि चीन-पाक धुरी की बुनियाद इन दो देशों के उभयपक्षीय राष्ट्रहित के ऐतिहासिक सन्निपात पर टिकी है।

पाकिस्तान के लिए भी अपने पड़ोस में अफगानिस्तान हो या सीरिया, ईराक-तुर्की अथवा ईरान अस्थिरता का माहौल ही सबसे अधिक लाभप्रद समझा जा सकता है। अस्थिरता और अशांति ही इस बात की गारंटी है कि भ्रष्ट और खुदगर्ज शासक अपनी तमाम कमजोरियों और लाचारी के बावजूद अमेरिकी सैनिक और आर्थिक सहायता जुटाने के बारे में निशंक रह सकते हैं। अफगानिस्तान के बारे में चीनी रणनीति इसी कड़वे सच पर आधारित रही है, ऐसा लेखक का मानना है।

हाल के महीनों में निरंतर इस बात का चर्चा होता रहा है कि चीन क्यों, रेशम राजमार्ग का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं और क्यों इस महत्वाकांक्षा की पूर्ती के लिए उसे पाकिस्तान के सहयोग की जरूरत है? हालांकि, इस पुस्तक के लेखक ने अपना ध्यान भू-राजनीति पर ही केन्द्रित रखा है इस बारे में दोराय नहीं हो सकती कि 21 वीं सदी में भू-राजनीति को भू-अर्थव्यवस्था (जियो इकानॉमिक्स) से अलग नहीं किया जा सकता। आज चीन की अर्थव्यवस्था अमेरिका के बाद दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है और अमेरिका खुद कई खरब डॉलर चीनी कर्ज के बोझ से दबा है। चीन ने अपने आर्थिक विकास का जो मॉडल चुना है वह औरों से काफी फर्क है। हाँगकॉंग, शंघाई जैसे इलाकों में विशेष आर्थिक क्षेत्र स्थापित किए गए हैं जिनकी सफलता के लिए शेष चीन की राजनैतिक और कानूनी व्यवस्था के बंधनों से

उन्हें मुक्त रखा गया है। यहां श्रम सस्ता है और बेहद अनुशासित। एक राज्य और दो व्यवस्था वाली नीति का अनुसरण कर चीनी उत्पाद अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बेहद सस्ते साबित हुए हैं। चीन में अपनी औद्योगिक इकाइयाँ साबित करने वाली सभी अमेरिकी कंपनियों का अनुभव सुखद नहीं रहा है। चीन ने भूमंडलीकरण को आंखमूद कर स्वीकार नहीं किया है और न ही विश्वव्यापार संगठन के नियम-कानून को अपने आर्थिक विकास में बाधक बनने दिया है। बौद्धिक संपदा से जुड़े अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी प्रावधान हो अथवा पर्यावरण के संरक्षण या श्रमिकों के कल्याण से जुड़े मुद्दे चीन ने किसी भी निषेध या प्रतिबंध को अपने राह का रोड़ा नहीं बनने दिया है। उसका यह तर्क रहा है कि खुले बाज़ार कि दुहाई देने वाले खुद उस जैसे विकासशील देश के आर्थिक विकास में शुल्केतर बाधाएं खड़ी नहीं कर सकते। चीन के ऊपर दूसरों के पेटेंटों के उल्लंघन, खुल्लम-खुल्ला तस्करी और बाज़ार पर अपना एकाधिकार स्थापित करने के लिए लागत से कम मूल्यों पर माल 'डंप' करने के आरोप लगते रहे हैं। इन सब का कोई असर चीन पर नहीं हुआ है। वह एकाग्र चित होकर अफ्रीका और यूरोप के बाज़ारों में अपना माल पहुंचाने को प्राथमिकता देता रहा है।

चीन की भौगोलिक स्थिति को देखते हुए उसके लिए यह बेहद जरूरी है कि वह अधिकतम बंदरगाहों तक अपनी पहुंच बनाए और जहां संभव हो वहां तक स्थल मार्ग से अपना माल पहुंचाने की संभावनाओं को विकसित करे। आज चीन ओ.बी.ओ. आर को बार-बार रेखांकित करता है जिसका अर्थ है वन बॉर्डर वन रोड। पाकिस्तान, नेपाल, म्यांमार सभी जगह एक ही तरह का राजनय देखने को मिल रहा है। श्रीलंका में राजपक्ष के पदच्युत होने के बाद चीन इस बारे में निश्चित नहीं बैठ सकता कि नेपाल और म्यांमार में उसके हित आने वाले वर्षों में निरापद रहेंगे। यदि

कही इसबात का भरोसा किया जा सकता है तो वह पाकिस्तान ही है।

पुस्तक के अंतिम अध्याय में लेखक ने उन सभी सूत्रों को एकसाथ लाने का सार्थक प्रयास किया है जो इस पुस्तक में इधर-उधर बिखरे हैं। 21 वीं सदी के पहले चरण तक पहुंचते-पहुंचते चीन और पाकिस्तान की धुरी अपनी स्थापना से आधा सदी से अधिक समय पूरा कर चुकी है। इन लगभग छः दशकों में अमेरिका के साथ पाकिस्तान के संबंध एक से अधिक बार तनावग्रस्त रहे हैं पर चीन के साथ कभी कोई खटास रिश्तों में नहीं आई है। अपनी किताब के शुरुआत में ही लेखक ने जून 2007 में इस्लामाबाद की लाल मस्जिद वाले इलाके में एक चीनी मसाज पार्लर पर हुए हमले का जिक्र किया है। कट्टरपंथी तालिबानों की नज़र में यह दुष्चरित्र और व्यसनी लोगों का अड्डा था जिसका उपयोग नाम मात्र के लिए चीनी विशेषज्ञ सलाहकार करते थे इसका संचालन इस्लामी निज़ाम में बर्दाशत नहीं किया जा सकता था। इस हमले में कुछ चीनी बंधक भी बनाए गए थे और इस घटनाक्रम का अंजाम कुछ दिन बाद लाल मस्जिद पर हुए फौजी हमले में हुआ। इस घटना के बाद से ही तालिबान और कट्टरपंथी मौलवियों को यह लगता रहा है कि फौजी तानाशाहों ने उनके साथ जिओ और जीने दो की नीति छोड़ दी है। कुछ विशेषज्ञों ने यह भी सुझाया है कि यह हमला चीनियों की नाराजी से बचने के लिए नहीं बल्कि अमेरिकी दबाव के कारण भी किया गया। यूं तो अमेरिका ने भी पाकिस्तान में अपने राजनायिकों तथा अन्य नागरिकों पर जानलेवा हमले के बाद काफी संयम बरता है पर अंततः ओसामाबिन लादेन के खातमे के लिए एबटाबाद की छावनी पर किए हमले के बाद से पाकिस्तानियों को यह लगता रहा है जो वाज़िब भी है कि अमेरिका ने उनकी संप्रभुता का उल्लंघन किया है। चीन के लिए यह कही अधिक आसान है कि वह पाकिस्तान में

कट्टरपंथी तत्वों के प्रति (फिलहाल) तटस्थ बना रहे। जनतंत्र की हिमायत करने वाले विद्वानों को यह लग सकता है कि लेखक इस बारे में दोहरे मानदण्ड अपना रहा है। हकीकत यह है कि भू-राजनीति की कसौटी पर किसी नीति को कसते वक्त भावनाओं का पुट नहीं डाला जा सकता। लेखक जिस निष्कर्ष पर पहुंचता है वह हमें निर्मम लग सकता है पर निश्चय ही तर्क संगत है। चीन के लिए अपने और आर्थिक-सामरिक हितों को निरापद रखने के लिए पाकिस्तान बेहद जरूरी है और यदि पाकिस्तान का इच्छानुसार भू-राजनैतिक उपयोग करने के लिए अपने कुछ नागरिकों की कुर्बानी देनी पड़ती है या पाकिस्तान में जनतंत्र की जड़ नष्ट होती है और पाकिस्तानी आवाम की सुख-शांति खतरे में पड़ती है तो इसे चीन बहुत बड़ी कीमत नहीं समझता।

इन पंक्तियों के लेखक का यह मानना है कि हमें यह बात भली-भांति समझ लेनी चाहिए कि चीन-पाकिस्तान धुरी सिर्फ भारत के खिलाफ नहीं निर्मित हुई है। यह सच है कि पाकिस्तान ने चीन के साथ अपनी दोस्ती का फायदा भारत पर दबाव बढ़ाने के लिए किया है पर जब से भारत और चीन के साथ आर्थिक संबंधों में अप्रत्याशित विस्तार हुआ है इसकी उपयोगिता कम हो गई है। हमारे लिए चीन के प्रति या पाकिस्तान के प्रति भी अपनी नीति का निर्धारण करते वक्त इस बात को याद रखना उपयोगी होगा। हम भी एशियाई भू-राजनीति के दूरगामी प्रभाव को अनदेखा नहीं कर सकते। 'दुनिया की छत' पर व्यापार अथवा आतंकवाद के विरुद्ध संघर्ष के संदर्भ में भारत और चीन के हितों का संयोग या सामंजस्य स्वयं सिद्ध या अनिवार्य नहीं।

तजाकिस्तान-अफगानिस्तान-पाकिस्तान से होकर भारत तक आने वाली तेल-गैस पाइप लाइन वाली मरीचिका में फंसना हमारे लिए आत्मघातक ही सिद्ध हो सकता है। इस बात की संभावना बहुत कम है कि अफगानिस्तान, बलूचिस्तान और वजीरीस्तान

के बागी उपद्रव ग्रस्त प्रांत निकट भविष्य में इस परियोजना को संपन्न होने देंगे। जिस तरह चीन अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य को समग्र रूप से देखकर अपने भू-राजनैतिक लक्ष्य तय करता है वैसा ही हमें भी करना होगा। हमारे लिए पाकिस्तान या अफगानिस्तान की तुलना में नेपाल-श्रीलंका और म्यांमार तथा बांग्लादेश भू-राजनैतिक दृष्टि से कहीं अधिक संवेदनशील है। यदि इनके साथ हमारी किसी 'धुरी' का निर्माण होता है तभी हम चीन-पाकिस्तान धुरी को अपने खिलाफ इस्तेमाल किए जाने से रोक सकते हैं।

इस किताब का एक बहुत महत्वपूर्ण आयाम उन स्रोतों का बखान है जिनसे प्राप्त जानकारी के आधार पर इसे लिखा गया है। लगभग एक सौ बीस पन्ने उन टिप्पणियों को दिए गए हैं जिनसे स्रोत सामग्री का प्रामाणिक होना परखा जा सकता है। चोटी के नेताओं और अफसरों के साथ साक्षात्कारों के अलावा प्रकाशित शोध सामग्री और समाचार पत्रों का भरपूर प्रयोग किया गया है चीन और पाकिस्तान के स्रोतों के बारे में लेखक ने जरूरी सावधानी बरती है।

कुल मिला कर यह छोटी सी पुस्तक कई बार पढ़ने लायक और संग्रहणिय है।



पुस्तक समीक्षा

BOOK
REVIEW

मणिकांत सिंह

अक्सर इस बात की चर्चा होती है कि भारत एक उदीयमान महाशक्ति है। आज़ादी के समय से ही भारतवासियों की यह मान्यता रही है कि उसे अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर महाशक्तियों के समकक्ष स्थान और प्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। वह दुनिया का दूसरी सबसे बड़ी आबादी वाला देश है और हज़ारों साल पुरानी एक ऐसी सभ्यता का वारिस जो आज भी जीवंत है—जिसके प्रभाव क्षेत्र में दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देश (इंडोनेशिया समेत जो खुद दुनिया का तीसरी सबसे बड़ी आबादी वाला देश है और जहां रहने वाले मुसलमान इस्लाम के अनुयाइयों का विश्वभर में सबसे बड़ा घनत्व है) तथा मध्य एशिया और पश्चिम एशिया के साथ भी उसके सदियों पुराने पारंपरिक रिश्ते रहे हैं। जिसे भारत की पदछाप कहा जा सकता है उसका विस्तार वास्तव में बहुत बड़ा है। बौद्ध धर्म का प्रसार भारत से ही चीन, जापान, कोरिया तक हुआ और म्यांमार, श्रीलंका तथा कम्बोडिया, थाइलैंड और लाओस स्वयं को बेहिचक बेहतर भारत का अंश मानते हैं। शीतयुद्ध के दौर में नेहरू ने गुटनिरपेक्ष राजनय की जो नीति अपनाई उसने उन्हें अनायास तीसरी दुनिया के उन नवोदित राष्ट्र-राज्यों का नेता बना दिया जो किसी भी सैनिक-संगठन

के सदस्य नहीं बनना चाहते थे। 1947 से 1962 तक (चीन के साथ सैनिक मुठभेड़ तक) भारत निर्विवाद रूप से अफ्रीकी, एशियाई देशों को मुखिया माना जाता रहा और पूंजीवादी तथा साम्यवादी खेमे के बीच अनेक बार शांति को बरकरार रखने के लिए उसकी सफल मध्यस्थता को नकारा नहीं जा सकता।

अब सवाल यह उठता है कि इस सबके बावजूद आज 21वीं सदी के दूसरे दशक के बीचों-बीच क्यों यह सवाल हमें पूछना पड़ता है कि भारत अबतक महाशक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त करने में असमर्थ रहा है?

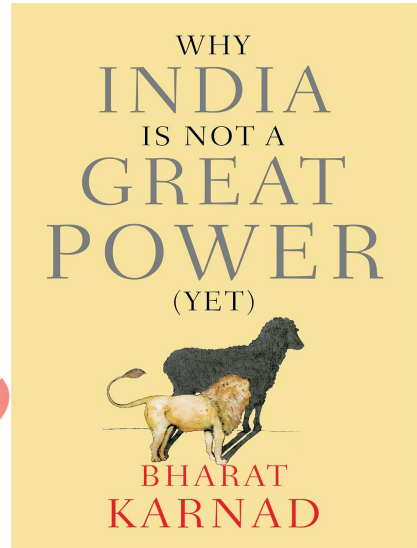
गुल्थी काफी उलझी हुई है। अधिकांश विद्वानों का आज यह मानना है कि नेहरू की विदेशनीति की विफलता ने (चीन और पाकिस्तान के संदर्भ में खासकर) तो भारत को कमजोर बनाया ही उनकी आर्थिक नीतियों ने भी भारत के विकास की गति को बुरी तरह धीमा किया और आर्थिक विकास दर को इतना कम कर दिया कि विश्वभर में हिन्दू विकास दर का जिक्र हमारा मुखौल उड़ाने के लिए किया जाने लगा। जब तक नेहरू जीवित थे तब तक बहाना यह बनाया जाता था कि भारत एक जनतांत्रिक देश है और भले ही हमें आर्थिक प्रगति कर संपन्न देशों के बराबर पहुंचने में कुछ देर लग जाए हमारी तुलना चीन से नहीं की जानी चाहिए जिन्होंने अपनी सैनिक शक्ति और आर्थिक क्षमता का विकास तानाशाही अपना कर किया है। यह दलील भी

ल्लाय

इंडिया इज नॉट

ए ग्रेट पावर (येट)

लेखक: भरत कर्नाड



दी जाती रहती थी कि हमने सोच-समझ कर आर्थिक विकास को सामाजिक न्याय के साथ संतुलित करने की रणनीति अपनाई है और हम धीरे-धीरे खड़े हो सकते हैं। नेहरू की मृत्यु के बाद उनकी आलोचना अधिक कटु शब्दों में बिना किसी सौजन्य का निर्वाह किए की जाने लगी। यह बात जगजाहिर हो चुकी थी कि नेहरू ने मिश्रित अर्थव्यवस्था का जो विकल्प चुना था वह असफल सिद्ध हुआ था। आर्थिक स्वालंबन और आत्मनिर्भरता के हठ ने लाइसेंस परमिट राज के भ्रष्टाचार को ही बढ़ावा दिया था। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम इजारेदार एकाधिकार वाली जागीरों में विकसित हो गए थे और इस कारण निजी क्षेत्र को प्रतिस्पर्धी क्षमता से वंचित कर पंगु बना

दिया गया था। सबसे चिंताजनक बात यह थी कि देश के विभाजन के 25 वर्ष बाद भी हमारा देश खाद्यान्नों के मामले में दूसरो पर निर्भर था। श्रीमती गांधी के कार्यकाल के पूर्वाद्ध में इसी कारण भारत को बार-बार अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपमानित और तिरस्कृत होना पड़ता रहा, क्योंकि हमारी आबादी का बड़ा हिस्सा पी.एल. 480 परियोजना के तहत अमेरिका से हासिल होने वाले अनाज पर बुरी तरह निर्भर थे। गुटनिरपेक्ष भारत 1962 के बाद से न तो अपनी सामरिक सुरक्षा के मामले में और न ही भूख मिटाने के बारे में अपने को समर्थ कह सकता था। जाहिर है कि ऐसा कोई भी देश महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा नहीं पाल सकता। इसीलिए यह सवाल हाशिए पर चला गया और गुन्नारमिडाल जैसे समाजशास्त्री भारत को एक मुलायम राज्य कहने लगे। जो अपना अस्तित्व बनाए रखने की लड़ाई में ही व्यस्त रहता था।

यह सारी भूमिका बेहद जरूरी है और भरत कर्नाड की किताब का एक बड़ा हिस्सा इन्हीं मुद्दों पर केन्द्रित है। लेखक ने शुरू में ही यह बात साफ कर दी है कि इस पुस्तक का स्वरूप वर्णन और विश्लेषण का सम्मिश्रण है। किताब के शीर्षक में कोष्ठक में जो शब्द 'अब तक' लिखा गया है उससे यही सूचित होता है कि लेखक कहीं ना कहीं यह बात स्वीकार करता है कि आज भी भारत के महाशक्ति बनने की संभावना शेष है।

पुस्तक के मूल्यांकन के पहले लेखक की तरफ ध्यान देना परमावश्यक है। भरत कर्नाड इस देश के अग्रणी समरशास्त्रियों में हैं। वह सेन्टर ऑफ पॉलिसी रिसर्च में रिसर्च प्रोफेसर हैं और प्रिन्सटन जैसे विख्यात विश्वविद्यालयों में अतिथि, अध्यापक के रूप में काम कर चुके हैं। इससे पहले वाली एन.डी.ए. सरकार में वह नेशनल सिक्वोरिटी अडवाइज़री बोर्ड के सदस्य के रूप में काम कर चुके हैं। दसवें वित्त आयोग में सामरिक सुरक्षा पर किए जाने वाले खर्च के विषय में उन्हें विशेषज्ञ के रूप में आमंत्रित किया गया था। भरत कर्नाड की एक अन्य पुस्तक न्यूक्लियर वैपन्स एण्ड इंडियन

सिक्वोरिटी बहुचर्चित रह चुकी है। उन्होंने 2009 में भारत-अमेरिका परमाणविक करार की जमकर आलोचना की थी और इसे एक घुटना टेक समर्पण कहा था, इसका शीर्षक था इस्ट्रैटिजिक सेल आउट: इंडिया-यूएस न्यूक्लियर डील। उनके सह लेखकों में एटमिक एनर्जी आयोग के पूर्व अध्यक्ष पी.के. अयांगर भी थे। यह सब याद दिलाने का मकसद सिर्फ इतना है कि हम इस बात को समझ सकें कि भरत कर्नाड के बुनियादी सरोकार सामरिक- भू-राजनैतिक ही हैं और वह इसी कसौटी पर भारत के महाशक्ति होने के दावे को कसते हैं। एक दूसरी बात जो यहां जोड़नी जरूरी है वह यह कि उनका राजनैतिक रुझान कांग्रेस विरोधी नहीं तो कम से कम गैर कांग्रेसी है और उनका मानना है कि अगर भारत आज तक महाशक्ति बनने में सफल नहीं रहा है तो इसका प्रमुख कारण यह है कि यू.पी.ए. एक और दो में मनमोहन सिंह के कार्यकाल में भारत का अन्तर्राष्ट्रीय अवमूल्यन लगातार हुआ है।

यह बात नजरदांज नहीं की जा सकती कि मनमोहन सिंह जबतक प्रधानमंत्री रहे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अर्थशास्त्री होने के बावजूद वह भारत के आर्थिक विकास को सुनिश्चित नहीं कर सके। पूरे दस वर्ष तक उनके बारे में यही मान्यता रही कि वह सिर्फ कुर्सी पर बैठे कठपुतले हैं जो आला कमान अर्थात् सोनिया के हुक्म और फर्मान के अनुसार ही काम करते हैं। आर्थिक विकासदर शुरू के एक-दो वर्षों में आठ-नौ प्रतिशत के आस-पास मडराने के बाद चार प्रतिशत तक लुढ़क गई। पदभार से मुक्त होने तक मनमोहन सिंह की छवि बहुत बुरी तरह धूमिल हो चुकी थी और उन्हें निहायत निकम्मा और असफल प्रधानमंत्री करार दिया जा चुका था इस हालत में भारत की महाशक्ति बनने की संभावना लगभग पूरी तरह नष्ट समझी जाने लगी थी। दैत्याकार भ्रष्टाचार के जिन मामलों का पर्दाफाश हुआ था जिनमें कॉमनवैल्थ घोटाला, टेलीकॉम घोटाला प्रमुख थे और फिर कोयला घोटाला इन सभी ने भारत में पूंजीनिवेश के

लिए उत्सुक विदेशी निवेशकों का हौसला कमजोर किया। मनमोहन सरकार की पहचान वंशवादी कुनबापरस्त, भ्रष्ट जागीरदारी वाली बन गई थी। भरत कर्नाड इस बात को ज़रा भी नहीं छुपाते कि वह मनमोहन सिंह और यू.पी.ए. के आलोचक है पर अपनी विद्यत्वापूर्ण तटस्थता का पूरी तरह निर्वाह करते हैं। आलोचना वह तथ्यों के आधार पर करते हैं और तर्कसंगत तरीके से उनका मकसद पाठक को यह समझाना है कि कोई भी देश अपनी आंतरिक राजनीति में कमजोर या असमंजस में घिरा रहकर महाशक्ति बनने का सपना नहीं पाल सकता। अर्थव्यवस्था की मजबूती और बढ़ी विकासदर इसकी सबसे पहली शर्त है। भरत कर्नाड का यह मानना है कि महाशक्ति तीन तरह की होती है। एक वह जो अपनी कठोर शक्ति की क्षमता के आधार पर यह पद हासिल करती है और दूसरी वह जो अपनी कोमल शक्ति या सांस्कृतिक प्रभाव के कारण दूसरों के आचरण को प्रभावित कर सकती है। मजेंदार बात यह है कि जिस कोमल शक्ति का उल्लेख जोज़फ़ नामक अमेरिकी विद्वान के साथ जोड़कर किया जाता है उसका प्रयोग दशकों पहले भारत करने लगा था जब नेहरू देश के प्रधानमंत्री थे। देश की आजादी के साथ ही भारत का बंटवारा भी हुआ था और करोड़ों शरणार्थी भारत आ पहुंचे। साम्प्रदायिक दंगों पर काबू पाना और शरणार्थियों का पुनर्वास सरकार की प्राथमिकता थी। भारत के पास बहुत सीमित आर्थिक संसाधन थे और देश के बड़े हिस्से पर अभी भी रियासतें और रजवाड़े बरकरार थे। इनका भारतीय राज्य में विलय काफी बड़ी चुनौती थी। इन दोनों समस्याओं का समाधान करते चार-पांच वर्ष बीत गए। वास्तव में आज़ाद भारत का जन्म 1952 के आस-पास ही माना जा सकता है जब संविधान अपनाया जा चुका था और पहले चुनाव निर्विघ्न संपन्न हो सके। इसी वर्ष पहली पंचवर्षीय योजना का सूत्रपात हुआ और भारत के औद्योगिक विकास की नींव रखी गई। कर्नाड की इस पुस्तक को पढ़ना बेहद दिलचस्प और बहुत उपयोगी इसलिए भी है

कि इसमें संक्षेप में ही सही आज़ादी से आजतक भारत के आर्थिक विकास और राजनैतिक घटनाक्रम के अन्तर संबद्ध को ध्यान में रखते हुए राष्ट्रहित की बदलती परिभाषाओं के संदर्भ में भारत की महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा का अलग-अलग कालखण्डों में मूल्यांकन किया है। कर्नाड ने किताब की भूमिका में यह बात भी साफ कर दी है कि उनका उद्देश्य सिर्फ पूर्ववर्ती सरकारों पर लांछन लगाना नहीं है बल्कि उनकी एक चिंता यह भी है कि शायद अब मोदी सरकार अतीत के अनुभव से सबक सीखकर कोई सार्थक पहल कर सकें।

भरत कर्नाड के बारे में यह माना जाता है कि वह अतिथार्थवादी राजनैतिक चिंतक है। अतिथार्थवाद के लिए अंग्रेजी में जर्मन भाषा का एक खास शब्द रियाल पॉलिटिक काम लाया जाता है। इसी चिंतन के आधार पर कर्नाड का विश्लेषण संपादित होता है। अतिथार्थवादी विश्व दर्शन के कारण ही शायद वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भू-राजनीति को सबसे महत्वपूर्ण घटक समझते हैं। पुस्तक के पहले पन्ने में ही भारत को विश्व मानचित्र के केन्द्र में रखकर एक नक्शा दिखलाया गया है ताकि पाठक यह समझ सकें कि महाशक्ति बनने की भारत की इच्छा नाजायज़ नहीं यह बेहद स्वाभाविक है। भू-राजनीति में दो प्रमुख अवधारणायें हैं, एक है हार्टलैण्ड वाली जिसे आप मोटा-मोटी किसी महाद्वीप का मर्मस्थल कह सकते हैं और दूसरी रिमलैण्ड वाली अर्थात् सागर तटवर्ती परिधि को नियंत्रित करने वाले राज्यों की। पहली अवधारणा के साथ स्थल सैनिक शक्ति का संयोग होता है तो दूसरी के साथ नौ-सैनिक शक्ति का 19वीं सदी जब एक विशेष विज्ञान के रूप में भू-राजनीति का विकास हुआ तबतक वायु-सैनिक शक्ति की कल्पना कोई नहीं कर सकता था। इसी कारण वैमानिक आयाम का जिब्र मेकेन्डर या महान जैसे लेखकों की रचनाओं में नहीं मिलता। मगर यह सभी यूरोशियाई महाद्वीप को सामरिक दृष्टि से बेहद महत्वपूर्ण मानते हैं और यह

स्थापना काफी असरदार रही है कि जो कोई शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर प्रभावशाली होना चाहती है उसे परिधि, मर्मस्थल और यूरोशियाई महाद्वीप में अपना शक्ति प्रक्षेप करने में सक्षम होना चाहिए।

कर्नाड के अनुसार विश्व इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं जब अन्य बड़ी शक्तियों ने किसी दूसरे राज्य को सहर्ष अपने समकक्ष आने दिया हो। यह बात महाशक्तियों पर तो और भी सटीक बैठती है। कर्नाड एकाधिक बार यह बात रेखांकित करते हैं कि चीन का उदाहरण यही प्रमाणित करता है कि किसी भी उदीयमान शक्ति को महाशक्ति पद बिना जद्दो-जहद के कड़े प्रतिरोध का सामना किए बिना नहीं मिलता। शीतयुद्ध के प्रारंभिक चरण में इसी तरह की चुनौती का सामना सोवियत संघ को करना पड़ा था। भारत के सिलसिले में लेखक की टिप्पणी काफी विचारोत्तेजक है। उनका मानना है कि अमेरिकी और अन्य पश्चिमी शक्तियों का प्रयास यह रहा है कि वह उदीयमान शक्ति के रूप में भारत को प्रोत्साहित करते रहे और उसकी पीठ थपथपाकर उसे आत्ममुग्ध बनाए रखें। वह बरसों से इसी मृगमरीचिका में फंसा है कि अब उसे मान्यता और प्रतिष्ठा मिलने लगी है तो अब महाशक्ति बनने में ज़्यादा देर नहीं हकीकत यह है कि जब भी अमेरिका या कोई और भारत की चर्चा उदीयमान शक्ति के रूप में करता है तो उनका प्रमुख लक्ष्य भारत को दक्षिण एशिया में प्रमुख शक्ति के रूप में स्वीकार करना होता है। जाहिर है कि चीन में एशिया की उपस्थिति में भारत प्रमुख शक्ति होने का दावा नहीं कर सकता और न ही आज के भारत की तुलना आज के चीन से की जा सकती है। भले ही 1950 के दशक में ऐसा करने वालों की कमी नहीं थी।

लेखक ने बड़े श्रम से अनेक स्रोतों से सामग्री एकत्र कर यह जानने की कोशिश की है कि कैसे देखते ही देखते चीन, भारत से आगे निकल गया और गरीबी से जूझते अमेरिका और सोवियत संघ के प्रतिरोध के बावजूद परमाणिक हथियारों से लैस हो गया

और दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था के रूप में प्रकट हुआ। आज वह सुरक्षा परिषद का स्थाई सदस्य है और अपनी शर्तों पर अमेरिका और रूस के साथ राजनयिक विकल्प चुनता है। कर्नाड का मानना है कि हथियारों के मामले में आत्मनिर्भर हुए बिना महाशक्ति अर्जित नहीं की जा सकती और हथियारों का उत्पादन तबतक आत्मनिर्भर नहीं हो सकता जबतक विज्ञान और टैक्नोलॉजी की प्रकृति का चहुमुखी विकास सुनिश्चित न किया गया हो। यह काम भारत इसलिए नहीं कर सका (कर्नाड की राय में) क्योंकि सार्वजनिक क्षेत्र की जिन इकाइयों ने राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण आविष्कार किए या जिनकी उपलब्धियां उल्लेखनीय रही उन्हें नियस्त स्वार्थों ने विदेशी शक्तियों के इशारे पर हतोत्साहित ही किया। इसके अलावा निजी क्षेत्र को रक्षा उत्पादन को अति संवेदनशील गोपनीय विषय समझ कुछ सीखने का मौका ही नहीं दिया। यह बात प्रशंसनीय है कि अपनी चिरपरिचित शैली में भरत कर्नाड ने सिर्फ फतवें नहीं दिए हैं बल्कि सभी बातों को प्रमाण सहित पुष्ट किया है। डी.आर.डी.ओ., एच.ए.एल., या बी.एच.ई.एल इन सभी के अनुभव के आधार पर ही वह इस नतीजे पर पहुंचे हैं। उन्होंने अवकाश प्राप्त जनरलों, एडमिरलों, एयर मार्शलों और राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार आदि वरिष्ठ अधिकारियों के साथ अपने अंतरंग साक्षात्कारों का पूरा लाभ उठाया है।

पुस्तक में सात अध्याय हैं जिनमें पहला और आखरी अध्याय खासतौर से पठनीय हैं। पहले अध्याय में इस बात का परीक्षण किया गया है कि भारत किस प्रकार की महाशक्ति बन सकती है और अंतिम अध्याय में उन बातों को रेखांकित किया गया है जिनके कारण आंतरिक बाधाएँ भारत की इस महत्वाकांक्षा के मार्ग में बाधाएँ बनी रहती हैं। तीसरा अध्याय भारत के उन अन्तर्राष्ट्रीय रिश्तों का विवेचन करता है जो उसके राष्ट्रहित के लिए बेहद महत्वपूर्ण हैं और संवेदनशील समझे जा सकते हैं। चौथे-पांचवें और छठे अध्याय में लेखन ने

क्रमशः हमें यह समझाने की कोशिश की है कि कैसे 'शांति प्रेमी' भारत महाशक्ति बनना तो चाहता है पर बिना कुछ कष्ट उठाए या संघर्ष के। नेहरू की वैचारिक विरासत ही इसके लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार समझी जानी चाहिए। उन्हें लगता है कि यह मानसिकता इस कारण पनपी है कि हमारे नेता यह मानकर चलते हैं कि बिना कठोर सैनिक शक्ति के ही कोई देश सिर्फ कोमल शक्ति का प्रयोग कर महाशक्ति बन सकता है। लेखक का मानना है कि राजनेता जिन्हें सामरिक मामलों की जानकारी लगभग नहीं के बराबर या आधी-अधूरी ही रहती है, पेशेवर सेना को हताश-निराश करते रहे हैं जिसके कारण महाशक्ति के लायक सामरिक सिद्धांत का भारत में विकास नहीं हो सका है। वह एक से अधिक बार इस बात का जिक्र करते हैं कि अमर्त्य सेन जैसे विद्वान यह तर्क पेश करते रहते हैं कि भारत एक गरीब देश है जिसकी आंतरिक समस्याएँ बेहद विकट और इसीलिए उसे महाशक्ति बनने का सपना नहीं पालना चाहिए। इस खर्च को वह बर्दाश्त ही नहीं कर सकता। कर्नाड का कहना है कि इतिहास इस बात का गवाह है कि अब तक संसार में जिस किसी भी देश ने महाशक्ति पद प्राप्त किया है उसने आंतरिक समस्याओं का समाधान साथ-साथ निरंतर किया है और चुनौतियों से मुंह नहीं मोड़ा है। सोवियत संघ और चीन दोनों इसी का प्रमाण हैं।

लेखक का मानना है कि भारत की सबसे बड़ी कमजोरी आत्मविश्वास का अभाव है। यदि रामचन्द्र गुहा और अमर्त्य सेन की दलील मान लें तो यह सारी बहस ही बेमानी हो जाती है। उनका सुझाव है कि आज भी यदि भारत अपने पड़ोसी देशों को अपने साथ-साथ आत्मनिर्भर, आर्थिक रूप से विकसित और राजनीतिक दृष्टि से स्थिर बनाने में मददगार होता है तो खुद-व-खुद भारत का प्रभुत्व बढ़ जाएगा। ध्यान देने लायक बात यह है कि कई बरस से कर्नाड यह बात कहते रहे हैं कि भारत का स्थाई बैर पाकिस्तान से नहीं है और न ही हो सकता है। उनका मानना है कि भारत की

असली प्रतिद्वंद्विता चीन से ही है। उनके अनुसार जवाहरलाल नेहरू की सबसे बड़ी भूल यह थी कि उन्हें लगता था 'ऐतिहासिक सांस्कृतिक' कारणों से भारत और चीन हमेशा सहयोगी बने रहेंगे। साम्यवादी चीन ने इस नादानी का फायदा उठाया और गुटनिरपेक्ष भारत का इस्तेमाल अन्तर्राष्ट्रीय मंच में अपना प्रवेश सहज बनाने के लिए किया। आज भी अगर चीन भारत के पड़ोस में नेपाल, भूटान, बांग्लादेश, म्यांमार, श्रीलंका, पाकिस्तान में सक्रिय है तो सिर्फ इसलिए कि भारत को पंगु बनाने वाली एक राजनयिक धुरी का निर्माण किया जा सके। बड़ी शक्तियों की बराबरी करने की या महाशक्तियों से होड़ लेने की भारत की इच्छा तब तक पूरी नहीं हो सकती जबतक खुद अपने पड़ोसी देश उसका नेतृत्व स्वीकार न करें। यहां सवाल प्रभुता या प्रमुखता का नहीं बल्कि भू-राजनीति और सांस्कृतिक प्रभाव क्षेत्र के सन्नीपात का है।

इस पुस्तक का सबसे दिलचस्प हिस्सा भारत की सैनिक सामर्थ्य और उसकी कमजोरी वाला है। इस विषय को लगभग सौ पृष्ठ समर्पित है और अगला अध्याय इसका पूरक हिस्सा ही समझा जाना चाहिए। जो भारत के रक्षा उद्योग पर केन्द्रित है। लेखक का मानना है कि जो भारत आज विश्व में हथियारों और सैनिक साजोसामान का आयतक है वह न जाने क्यों वैज्ञानिक और तकनीक क्षमता के बावजूद अपनी जरूरत का बुनियादी सामान का उत्पादन करने में भी असमर्थ है। चाहे वह रॉकेट टेक्नोलॉजी, टैंक या लड़ाकू विमानों का उत्पादन हम बहुत बड़ी कीमत चुका कर मरम्मत किए हुए पुराने विमान वाहकपोतों, पनडुब्बियों की खरीद में अपने सीमित संसाधनों का अपव्यय करते रहे हैं।

कुलमिलाकर निष्कर्ष यह निकलता है कि यदि भारत को महाशक्ति बनना है तो उसे यह बात स्वीकार करनी ही होगी कि बिना कठोर शक्ति (सैनिक क्षमता) को अर्जित किए बिना यह संभव नहीं। कोमल शक्ति (सांस्कृतिक प्रभाव) और कुशल राजनय इसका पूरक ही हो सकता है। इस बात से घबराने या परेशान

होने की ज्यादा जरूरत नहीं कि हमें कितनी प्रकार की आंतरिक समस्याओं से घिरे हुए है या फिर हमारी आर्थिक विकास दर कैसे चढ़ते-उतरती रहती है? हम इस बात के लिए कम्तर कसनी होगी कि हम सामाजिक न्याय और जनतांत्रिक व्यवस्था को निरापद रखते हुए ही विश्व समुदाय में अपना स्थान ग्रहण करने के लिए सैन्य-सामर्थ्य बढ़ाएंगे। इसके साथ जुड़ा हुआ मुद्दा आत्मनिर्भर स्वदेशी रक्षा उत्पादन का है। अबतक के अपने अनुभव से भारत ने यह सबक भली-भांति सीख लिया है कि कोई भी मित्र राष्ट्र चाहे उसके साथ हमारे संबंध कितने भी घनिष्ठ क्यों ना हो हमें बखुशी महाशक्ति बनने के लिए हमारा मददगार होगा। पुस्तक का एक रोचक पक्ष यह है कि यूरोपीय इतिहास के और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दर्जनों प्रसंगों के साथ-साथ अपने तर्क को पुष्ट करने के लिए कर्नाड बीच-बीच में भारतीय मिथकों, पुराणों और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सूत्रों का सहारा भी लेते रहते हैं। पुस्तक वाकई एक भारत प्रेमी द्वारा भारत के राष्ट्रहित को केन्द्र में रखकर भारत के स्वर्णिम भविष्य के प्रति आशावान नज़रिए से लिखी गई है। आलोचना विपक्षियों को कलंकित करने के लिए नहीं बल्कि आगे गलतियों के दोहराव से बचने के लिए ही की गई है। हमारी राय में यह किताब न केवल सामरिक विषयों में रूचि रखने वालों के लिए बल्कि सामान्य पाठकों के लिए भी जरूरी 'पाठ्य पुस्तक' समझी जानी चाहिए। भरत कर्नाड जुगाड़ मानसिकता से बहुत परेशान है, उनका बिल्कुल सही मानना है कि अगर हमें ताकतवर बनना है और तरक्की करनी है तो कुछ कष्ट तो सहने ही होंगे। यही बात इस किताब पर भी लागू होती है। निष्कर्ष के कुछ पन्नों में इसका निचोड़ तलाशने वाले इसका पूरा लाभ नहीं उठा सकते। यह किताब पूरी की पूरी और धैर्य से बार-बार पढ़े जाने लायक है।

■■■

पुस्तक समीक्षा

BOOK
REVIEW

- पुष्पेश पंत

वन इस्लाम,
मैनी मुस्लिम वर्ल्स:

स्प्रिचुएलिटी, आइडेंटिटी एंड रेसिस्टेंस',

लेखक रेमंड विलियम बेकर

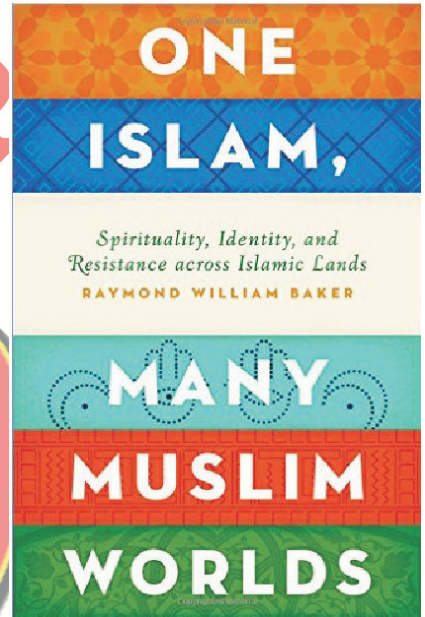
दुनिया की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा इस्लाम के अनुयाइयों का है और कोई भी महाद्वीप इस्लाम के साथ सहअस्तित्व की चुनौती की जटिलता को नकार नहीं सकता। कट्टरपंथी इस्लाम और इससे प्रेरित आतंकवाद की समस्या से दुनिया के अनेक देश प्रभावित हैं जिनमें अमेरिका तथा रूस जैसी महाशक्तियाँ और चीन भी शामिल हैं। सैमुवल हंटिंगटन सरीखे विद्वान दशकों पहले 'सभ्यताओं के टकराव' की बात कर चुके हैं जिसका प्रमुख तत्व ईसाईयत और इस्लाम के बीच सांस्कृतिक संघर्ष है। यह बुनियादी 'मतभेद' ऐसी राजनैतिक रस्साकशी को जन्म दे चुका है जिसमें सुलह और सहअस्तित्व की कोई संभावना नजर नहीं आती। अनेक मान्यताओं में समानता के बावजूद तथा ईश्वर के संदेशवाहकों को समान रूप से आदरणीय समझने के बाद भी सदियों से इन दो धर्मों के बीच सैनिक संघर्ष चलता रहा है। मध्ययुगीन क्रूसेड नामक धर्मयुद्ध इसी का उदाहरण हैं। यह बात निर्विवाद है कि इस्लाम के बारे में अपनी जानकारी बढ़ाए बिना आज किसी का काम नहीं चल सकता। इसी लिए यह पुस्तक अपने शीर्षक के कारण सहज ही आकर्षित करती है।

लेखक रेमंड विलियम बेकर,

इंटरनेशनल मिडिल ईस्ट इंस्टिट्यूट के निदेशक हैं और एक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में प्रोफेसर। उनका प्रयास इस मायने में बहुत मौलिक समझा जाना चाहिए कि वह इस्लाम को आधुनिकता या पश्चिमी वैज्ञानिक सभ्यता और सोच का जन्मजात विरोधी नहीं समझते और न ही उसे अनिवार्यतः कट्टरपंथी, असहिष्णु मानते हैं। उनकी राय में 9/11 के वर्ल्ड ट्रेड टावर वाले दहशतगर्द हमले के बाद से अधिकांश पश्चिमी विश्लेषकों ने अपना संतुलनगंवा दिया है और इस्लाम का अध्ययन एक हमलावर शत्रु के रूप में पूर्वाग्रह ग्रस्त हो कर ही करते रहे हैं जबकि वास्तविकता इससे बहुत भिन्न है।

हालांकि पुस्तक के शुरू के भाग में एक संक्षिप्त ऐतिहासिक सर्वेक्षण है और अन्यत्र भी बीच बीच में वह इस्लाम के सांस्कृतिक दार्शनिक विरासत के बारे में भूली बिसरी बातों का उल्लेख कर विचारोत्तेजक टिप्पणियाँ करते हैं यह रचना ऐतिहासिक शोध के आधार पर लेखक की स्थापना को प्रमाणित करने का प्रयास नहीं। इस्लाम के इतिहास के कुछ बड़े नामों- इब्न खाल्दून, इब्न बतूता, अबू सीना आदि का उदाहरण सार्थक है पर यह चिंतक लेखक 21वीं सदी में प्रभावशाली कर्तई नहीं समझे जा सकते।

पुस्तक का उपशीर्षक भी असमंजस तथा भ्रम पैदा करता है- 'स्प्रिचुएलिटी, आइडेंटिटी एंड रेसिस्टेंस' अर्थात्



आध्यात्म, पहचान और प्रतिरोध'। 'आध्यात्म' शब्द के साथ अनिवार्यतः एक ऐसा अमूर्त जुड़ जाता है जो इहलौकिक भौतिक सरोकारों को पृष्ठभूमि में धकेल देता है। ऐसी ही कुछ समस्या 'पहचान' के साथ भी है। क्या किसी व्यक्ति या समूह की पहचान- या उसकी प्रमुख पहचान धार्मिक ही समझी जा सकती है? इस्लाम के अधिकांश अनुयाइयों पर भले ही यह बात लागू होती हो पर क्या इसके बावजूद हम नस्लवादी, भाषाई, आर्थिक वर्गीकरण तथा औपनिवेशिक पहचान को दरकिनार कर सकते हैं? यह सवाल भी बचा रहता है कि इस्लाम को कबूल करने वाले समाजों की प्राचीन

ऐतिहासिक विरासत का अंतर बहुत बड़ा है। ईरान, ईराक, मिस्र जैसे देश हजारों साल पुरानी सभ्यताओं के स्वाभिमानी उत्तराधिकारी हैं जबकि इस्लाम का आविर्भाव करीब डेढ़ हजार साल पहले ही हुआ है। अंत में 'प्रतिरोध' को इन दो के साथ जोड़ कर लेखक क्या प्रमाणित करना चाहता है, समझ नहीं आता। इसमें संदेह नहीं कि 'इस्लामी दुनिया' आज अभुतपूर्व उथल पुथल के दौर से गुजर रही है परंतु क्या यह निर्विवाद है कि जिस पश्चिमी प्रभुत्व के आक्रामक हिंसक प्रतिरोध के मूल में आध्यात्मिक सवाल हैं और अपनी पहचान की तलाश ही इसकी प्रेरणा है?

एक और महत्वपूर्ण बात की तरफ ध्यान दिलाना परमावश्यक है। पुस्तक के शीर्षकमें बेकर 'अनेक मुसलमान दुनियाओं' की बात करते हैं, इस्लामी राष्ट्र राज्य का जिक्र करने से बचते हुए। पर हमारे लिए यह समझ पाना कठिन है कि इस्लाम का अनुसरण करने वाले देशों का नामोल्लेख तक किए बिना किस आधार पर इस्लामी दुनिया के लिए वह बहुवचन वाचक शब्द का प्रयोग करते हैं?

यह ठीक है कि इस्लामी जगत में बहुत विविधता के दर्शन होते हैं और इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता कि इस दुनिया में शिया-सुन्नी सांप्रदायिक वैमनस्य का इतिहास सदियों पुराना है। अरब मुसलमानों तथा फारसी-ईरानियों का फर्क भी साफ नजर आता है। यह भी ना भूलें कि आज इस्लाम के कट्टर अनुयाइयों में बहुत बड़ी तादाद अफ्रीका महाद्वीप के निवासी अश्वेतों की है जिन्हें पारंपरिक रूप से अपने को श्रेष्ठ समझने वाले अरब दास (गुलाम) समझते रहे हैं। इस्लामी भाईचारे की दावेदारी के बावजूद इनकी हालत सौतेली संतान या दरिद्र रिश्तेदार जैसी ही है।

इससे भी विचित्र बात तो यह है कि लेखक उन देशों का नाममात्र के लिए भी उल्लेख नहीं करता जहां मुसलमान सबसे बड़ी संख्या में रहते हैं! इंडोनेशिया, भारत, बांग्ला देश तथा पाकिस्तान में कुल मुसलमान आबादी का आंकड़ा दुनियाभर की मुसलमान आबादी

के आधे से अधिक है। इतना ही नहीं, दक्षिण एशियाई तथा दक्षिण पूर्व एशियाई इस्लाम का स्वरूप अरब इस्लाम से बहुत फर्क रहा है। उसने सुन्नी अरबों के अतिरिक्त शिया ईरान और तुर्की से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। संलग्न अफगानिस्तान तथा पड़ोसी मध्य एशियाई गणराज्यों को इस सूची में शामिल कर लें तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाएगी कि मुसलमान दुनियाओं को चुनने का लेखक का नजरिया कितना संकुचित और पूर्वाग्रह ग्रस्त है। यह सुझाना तर्क संगत और जायज है कि यह पुस्तक शुद्ध बौद्धिक कौतूहल को शांत करने के लिए नहीं लिखी गई है बल्कि पश्चिमी सामरिक राजनय का हिस्सा है जो सैनिक असफलता के बाद आक्रामक इस्लाम की धार कुंद करने के लिए कोमल शक्ति का प्रयोग करने की रणनीति अपनाने को मजबूर है।

लेखक के मुख्य स्थापना यह है कि इस्लाम की उदीयमान मध्यमार्गी (मुख्य) धारा आधुनिकता या जनतांत्रिक प्रवृत्ति अथवा वैज्ञानिक सोच की विरोधी नहीं। वह कुरान शरीफ की बदलते समय के साथ व्यक्तिगत विवेक पर आधारित व्याख्या-इज्तेहाद- को महत्वपूर्ण समझती है। पैगंबर साहब की नसीहतों- हदीथ-तथा उनकी जीवनी के मार्गदर्शक प्रसंगों को सुन्नी को इसका प्रतिद्वंद्वी नहीं पूरक समझा जाना चाहिए। सुन्नी हों या शिया, मौलवियों, शेखों, काजी या इमाम आदि को इस पवित्र पुस्तक की व्याख्या का एकाधिकार या विशेषाधिकार नहीं। लेखक निरंतर इस बात पर जोर देता है कि इस्लाम का मूल स्वरूप जनतांत्रिक है तथा उसकी आत्मा समतापोषक है, उसकी असली शक्ति सामुदायिक सहकारी जीवन को आदर्श के रूप में स्थापित करने का मुक्तिकामी संदेश है। दिक्कत यह है कि अपनी इस स्थापना को शाश्वत सनातन सत्य प्रमाणित करने के उत्साह में लेखक उन साक्ष्यों की अनदेखी करता नजर आता है जो इस पर गंभीर सवालिया निशान लगाते हैं।

बेकर मध्ययुगीन असहिष्णु इस्लामी

इतिहास के दर्दनाक पन्ने बहुत तेजी से पलटने के बाद सीधे 19वीं सदी के अंतिम चरण में पहुंच जाते हैं- यहां भी वह इस्लाम के आधुनिकीकरण से जुड़े उन्हीं नामों की सूची पेश करते हैं जो उदार-सहनशील और समावेशी चिंतन का प्रतिनिधित्व करते हैं। वह यह नहीं बतलाते कि इनमें से अधिकांश मुख्यधारा में नहीं वरन ऐसे अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्य रहे हैं जिनका शुमार असंतुष्ट धर्म विरोधियों में किया जाता है। अनेक जगह लेखक ऐसे प्रतिगामी रूढ़िबद्ध चिंतकों या राजनेताओं को प्रेरक समाज सुधारकों की श्रेणी में रखने की चेष्टा करता दिखलाई देता है जिन्होंने खुद को निःसंकोच भाव से कट्टरपंथी घोषित किया है! तुर्की के एरगोवान हों या मिस्र में मुस्लिम बिरादरी के मुरसी इनके बारे में बेकर की राय से सहमत होना कठिन है।

लेखक की दिलचस्पी मुसलमानों की उन्हीं 'दुनियाओं' तक सीमित है जिनके साथ अमेरिका और यूरोप का संघर्ष जारी है। ऐसा जान पड़ता है कि वह यह मान कर चल रहे हैं कि ईराक तथा सीरिया का 'समाधान' तो हो चुका। लीबिया में भी सत्ता परिवर्तन कामयाब है। ईरान के साथ संबंधों को सामान्य करने की पेशकश अमेरिका कर ही चुका है। यदि इस सब के बावजूद आज भी पश्चिम याने अमेरिका खूंखार जिहादियों' के निशाने पर है तो इसके सांस्कृतिक कारण तलाशने की जरूरत उन्हें नजर आती है। भूराजनैतिक मानचित्र पर जो मुसलमान देश या समाज इस रक्त रंजित रणक्षेत्र में फिलहाल नहीं उनके बारे में सोच विचार कर बेकर विषय को उलझाना नहीं चाहते। इसे वह गैरजरूरी समझते होंगे।

उनका बुनियादी तर्क यह है कि खूनी मुठभेड़ें एक दूसरे को ठीक से नहीं पहचानने के कारण ही होती हैं। उनके अनुसार पश्चिम ने इस्लाम को अपने आईने में ही देखने का प्रयास किया है। उसका मूल्यांकन भी वह अपने 'आधुनिक' मानदंडों पर करता रहा है।

उसने इस्लाम की परंपरा के भीतर प्रवेश कर उनकी अपनी नजर से यह काम कभी नहीं किया है। इस सुलह के लिए व्याकुल पहल की प्रशंसा की जानी चाहिए पर यह सवाल पलट कर भी पूछा जा सकता है। क्या इस्लाम की तरफ से ऐसा कोई प्रयास कभी हुआ है? क्या यह सच नहीं कि असहिष्णु हठधर्मी ही इस्लामी जगत की एकता-अखंडता को निरापद रखती है। मध्ययुगीन साम्राज्यों के गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण कब तक इस विविधता से भरे समूह को एकजुट रख सकता है? कब तक खतरे में पड़े इस्लाम की रक्षा का आह्वान मोमिनों को काफिरों के साथ आत्मघातक संघर्ष के लिए प्रेरित कर सकता है?

बेकर बार बार यह दोहराते हैं कि इस्लाम की मंज़ाह- मध्यमार्गी उदार सहनशील धारा-इस बात को स्वीकार करती है कि जनतांत्रिक प्रणाली का कोई विकल्प नहीं और न ही इसका जन्मजात बैर इस्लाम के बुनियादी विश्वासों से है। इसी तरह सत्ता के विभाजन का सिद्धांत एवं निष्पक्ष न्यायपालिका और मानवाधिकारों का संरक्षण ऐसे विषय हैं जिन पर मजहबी आधार पर असहमति नहीं हो सकती। वह काफी मेहनत से यह दिखलाने की कोशिश करते हैं कि क्रांतिकारी ईरान और सैनिक तानाशाही से मुक्त तुर्की या फिर नासिर की समाजवादी सैनिक मिजाज वाली सरकार या हुस्नी मुबारक की वंशवादी हुकूमत का सफल प्रतिरोध इस्लामी चिंतको ने ही किया। पर इससे यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि इनका मकसद जनतंत्र का बीजारोपण था। कुल मिला कर इनका प्रभाव कमोबेश धर्म निरपेक्ष समाज के इस्लामीकरण के रूप में ही देखने को मिलता है। विडम्बना यह है कि अनेक देशों में सेना जो इस्लामी कट्टरपंथी से मुक्त थी आज इस जहर से अछूती नहीं। तुर्की में इसी कारण देश गृह युद्ध की कगार तक पहुंच चुका है। पाकिस्तान का जिक्र इस संदर्भ में बेकर ने कहीं नहीं किया है पर वहां की स्थिति इससे भी चिंताजनक है।

मुसलमान देशों में सुधारक-उदारवादी आधुनिक सोच मुखर करने वाले इस्लामी विद्वान लगातार कट्टरपंथियों द्वारा पराजित किए जा रहे हैं। इंडोनेशिया, मलेशिया, बांग्लादेश और भारत तक में यही कड़वा सच है। सऊदी अरब से जिस आक्रामक वहाबी इस्लाम का निर्यात पैट्रो डोलरों की मदद से दशकों से किया जाता रहा है उसके कारण उदार इस्लाम की हिमायत करने का जोखिम कोई उठाना नहीं चाहता। स्वयं अमेरिका ने अफगानिस्तान से सोवियत संघ को खदेड़ने के लिए पाकिस्तान में तालिबान की फसल बोई थी। उग्र-जुझारू सैनिक मैदान में उतारने के लिए मध्ययुगीन जिहाद की याद सुनियोजित रणनीति के तहत ताजा कराई गई। साथ ही यह अनदेखा करना असंभव है कि सऊदी अरब का मिथिकीय महिमामंडन तेल की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से जुड़ा है। बेकर जैसे लोग इस घड़ी अपराध बोध से मुक्त होने के लिए इस्लाम की शांतिपूर्ण समतापोषक तथा वैज्ञानिक सोच के प्रति खुले दिमाग वाली परंपरा से परिचय बढ़ाने को प्राथमिकता दे सकते हैं पर भारत जैसे देश के पाठकों को यह पाखंड ही लगेगा।

यह बात तर्क संगत है कि इस्लाम का राक्षसीकरण घातक मूर्खता है पर क्या यह सवाल नहीं पूछा जाना चाहिए कि अपने विरोधी की छवि को इस तरह कलंकित करना अमेरिका की पारंपरिक नीति है शीत युद्ध के युग में साम्यवादी रूस और जनवादी चीन के प्रति भी यही रवैया देखने को मिला था। आज भी पश्चिम में पुतिन का दानवीकरण जारी है। क्यों रूस के संदर्भ भी यह नहीं स्वीकार किया जाता कि उसे उसकी नजर से देखने समझने की जरूरत है, पश्चिमी पूंजीवादी दर्पण में उसका चेहरा टेडा तिरछा ही प्रतिबिंबित हो सकता है। कुछ लोगों को यह तुलना अटपटी लगेगी पर दोनों उदाहरणों में गहरा नाता है। दोनों ही जगह बुनियादी सवाल आधुनिकता की परिभाषा, पारंपरिक स्थानीय परिवेश को ध्यान में रखते 'विदेशी' तकनीक और विचारों

को अपने ऐतिहासिक अनुभव के आलोक में अपने अनुकूल सांचे में ढालने का है। रूस की आबादी का बहुसंख्यक स्लाव हिस्सा गोरा तो है पर नस्ली दृष्टि से लातीनी, जर्मन, एंग्लो सैक्सन बिरादरी से फर्क है। इसी तरह रूसी ईसाई तो हैं पर रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट मुख्याधारा का हिस्सा नहीं। चार-पांच सौ साल से रूसी साम्राज्य पर शासन करने वाले वर्ग ने भले ही फ्रांसीसी भाषा तथा संस्कृति को अपनाया हो सतह के नीचे आम रूसी का संस्कार बहुत फर्क बरकरार रहा है। रूस यूरोप की परिधि पर ही रहा है। मध्यएशियाई गणराज्यों के अलग हो जाने के बाद भी साइबेरिया के जरिए वह एशिया महाद्वीप से संलग्न है। इस्लाम के साथ उसका साक्षात्कार न तो क्रूसेड के जरिए हुआ है और न ही रेशम राजमार्ग के माध्यम से। ईरान रूसी साम्राज्यवाद के विस्तारवादी दौर में निशाने पर रहा है और सेंट पीटर्सबर्ग की सरहद तुर्की को छूती है पर कुस्तुनिया की सलतनत के साथ शक्ति समीकरण संतुलित रखने की मजबूरी उसकी नहीं रही।

रूस का जिक्र इस लिए भी बहुत जरूरी है कि इस घड़ी सीरिया में जो गृहयुद्ध चल रहा है उसमें रूस की पक्षधरता एक महत्वपूर्ण निर्णायक घटक है। आज भले ही फिलिस्तीनी इजराइलियों के साथ अपनी लड़ाई में रूस से उस तरह के समर्थन की अपेक्षा नहीं कर सकते जैसे अतीत में पर तब भी पश्चिमी धर्म निरपेक्षता और उदार जनतंत्र के थोपे जाने का प्रतिरोध करने वाले तबके को नास्तिक रूस का समर्थन मिलता रहता है। इस्लाम की दुनिया के सभी ज्वलंत प्रश्न आध्यात्मिकता और पहचान वाले नहीं। प्रतिरोध के तार भूराजनीति और सामरिक शक्ति समीकरणों से अनिवार्यतः जुड़े हैं। इसी कारण चीन अपने सिंगकियांग प्रांत में उगयुर मुसलमानों की हिंसक बगावत के बावजूद पाकिस्तान में कट्टरपंथी इस्लामी मानसिकता को नजरंदाज करता हुआ उसके साथ आधी सदी से भी अधिक समय से गहरे रिश्ते सहेज

कर रखे हैं।

सच तो यह है कि इस्लाम की दुनिया एक है परंतु इस दुनिया में इस्लाम के स्वरूप अनेक हैं। 21वीं सदी की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में एक विकट समस्या राष्ट्र राज्य की आधुनिक अवधारणा का तालमेल विश्वव्यापी इस्लामी बिरादरी के प्रति प्राथमिक आस्था और जिम्मेदारी की ललकार से बैठाने की है। जो राष्ट्र राज्य खुद को धर्म पर आधारित राज्य भी मानते हैं अपनी संप्रभुता को चुनौती स्वीकार नहीं करते। आइएसआइएस के नेता बगदादी जब नई खिलाफत की स्थापना का एलान करते हैं तो सऊदी अरब में खलबली मच जाती है। बहुत पुराना इतिहास दोहराने की दरकार नहीं, कुछ ही दशक पहले 'ईरान-ईराक' के बीच लड़ा गया सर्वनाशक युद्ध इस बात का प्रमाण है कि समानधर्मावलंबी होना इस्लामी जगत में शांति बरकरार नहीं रख सकता। इसके साथ ही यह भी याद रखने लायक है कि सत्तारूढ़ सैनिक तानाशाह हों या करिश्माई लोकप्रिय नेता यह धार्मिक नेताओं को अपना प्रतिद्वंद्वी ही समझते रहे हैं- दकियानूस और आर्थिक प्रगति, समाजसुधार में बाधक। यह भी नयी बात नहीं। बीसवीं सदी के आरंभ में कमाल अतातुर्क ने जब तुर्की को मौलवियों के शिकंजे से छुड़ाने में कामयाबी हासिल की थी तभी से यह रस्साकशी जारी है। जनरल जिया के राज के समय से पाकिस्तान का कायाकल्प इसी की पुष्टि करता है।

हम एक और बात को रेखांकित करना चाहते हैं। अनेक मुस्लिम दुनियाओं की बात करते वक्त बेकर यह बात भूल जाते हैं कि अनेक देश जहां की आबादी में मुसलमान बहुसंख्यक हैं खुद को सिर्फ मुसलमान दुनिया का हिस्सा नहीं मानते। उनकी अपनी पहचान का अभिन्न अंग इस्लाम कबूल करने के पहले वाली फारसी, हिंदू-बौद्ध या आदिवासी विरासत भी है। यह बात इंडोनेशिया, ईरान, बांग्ला देश और पाकिस्तान सभी पर लागू होती है। अफ्रीकी महाद्वीप में नाइजीरिया, सोमालिया के मुसलमानों तथा मिस्र या अल्जीरिया

अथवा मोरक्को के मुसलमानों के उपर एक इस्लाम का लेबल चस्पा उन्हें एक ऐसे समरस समुदाय के रूप में पेश नहीं किया जा सकता जिसके हित एक हैं। अमीर और गरीब वाली खाई तो है ही जो कुवैत, बहरीन और अमीरात को यमन या सोमालिया से अलग करती है। कजाकिस्तान के तथा ताजिकस्तान के खानाबदोश कबीले नाममात्र के ही मुसलमान हैं। उनके पारंपरिक कबाइली संस्कार को सात दशकों का साम्यवादी शासन भी नहीं बदल पाया। उज्बेकिस्तान, अजरबैजान, अल्बानिया और सर्बिया में इस्लामी सांप्रदायिकता की जड़ें गहरी हैं और वंशनाशक गृहयुद्ध में इसका नृशंश विस्फोट उस 'मंझधार वाली मध्यमार्गी उदार समावेशी सुधारवादी इस्लामी मानसिकता' के बावजूद हुवा है जिसको हमारी समझ में बेकर अनावश्यक तूल देते हैं। वह जब यह कहते हैं कि छोटे छोटे मुसलमान देशों में ऐसे प्रखर चिंतक हुए हैं जिन्होंने अपनी जान पर खेल कर इज्तिहाद के सिंद्धांत को पाक कुरान की व्याख्या में सर्वोपरि रखने का प्रयास किया है तब वह यह जोड़ना आवश्यक नहीं समझते कि ऐसे विचारक पश्चिमी अरब जगत के विशेषज्ञों या मीडिया के संवेदनशील जानकार खेमे के कितने ही प्रिय क्यों न हों अपने समाज में वह हाशिए पर ही रहे हैं। यह कहने का मकसद इनके साहस की या शहादत की अवमानना नहीं बल्कि यथार्थ का सामना करना है। मिस्र में सैयद कुतुब हों या ईराक में ब्रदर- बडे देशों के असरदार धार्मिक चिंतक-और अपने समुदाय के विद्वान नेता होने के बाद भी इनको बड़ी आसानी से उत्पीडित दंडित किया जा सका। कमोबेश यही गति ईरान में उन सुधार-संशोधन सुझाने वाले अयातोल्लाओं की हुई जिन्होंने कट्टरपंथी सर्वोच्च नेता से असहमति मुखर करने का दुस्साहस किया।

संक्षेप में, बीसवीं सदी के उत्तरार्ध से ही यह साफ है कि विश्वभर में इस्लाम की दुनिया में प्रतिगामी दकियानूस प्रवृत्ति उफान पर हैं। यह जगह इसके कारण और निवारण

पर विचार की नहीं। हम सिर्फ इतना रेखांकित करना चाहते हैं कि बेकर की पुस्तक एक तरफ आंख मूंद कर ही सामान्यकरण का लालच न छोड़ने की वजह से रोचक होने के बावजूद अधिक उपयोगी नहीं। इसकी सबसे बड़ी कमजोरी विश्व में इस्लाम के बहुसंख्यक अनुयाइयों की अवहेलना करना अल्पमत वाले उन मुसलमानों की बौद्धिक तरक्की पसंदी का महिमामंडन है जो हाशिए पर ही रहे हैं और रहेंगे। यह दोष लगभग सभी पश्चिमी पश्चिम एशिया विशेषज्ञों में देखने को मिलता है जिनकी नजर में अरब जगत ही इस्लामी दुनिया का सबसे महत्वपूर्ण केन्द्र है। तेल की राजनीति हो या शीतयुद्ध की भूराजनीति वाली मानसिकता सऊदी अरब और मध्य पूर्व-फारस की खाड़ी को सर्वोपरि सामरिक महत्व का मानती है। ज्यादा से ज्यादा ईरान को शामिल कर लिया जाता है।

हमारी समझ में आध्यात्मिकता का आयाम हो या व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय सांस्कृतिक पहचान का संकट समकालीन इस्लाम के संदर्भ में दक्षिण एशियाई महाद्वीप और इंडोनेशिया कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। परंपरा और परिवर्तन का निर्णायक संघर्ष यहीं तय होगा। इस्लाम से जुड़े बुनियादी सवालों के जवाब तलाशने के लिए हमें बेकर जैसे लेखक द्वारा सुलभ कराए विदेशी दर्पण की जरूरत नहीं होनी चाहिए। ■■■

पुस्तक समीक्षा

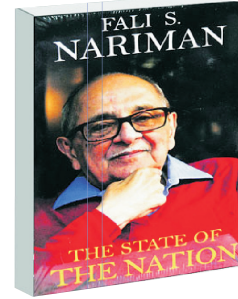
BOOK REVIEW



मणिकांत सिंह

द्वि स्टेट ऑफ द्वि नेशन

लेखक - फाली एस. नारीमन



पिछले कुछ माह से अपने देश में यह बहस गर्म है कि भारत में जनतंत्र जोखिम में है। जो लोग भाजपा और नरेन्द्र मोदी के विरोधी है उनका मानना है कि एन.डी.ए. सरकार के सत्ता में आने के बाद संघ परिवार के अति उत्साही कार्यकर्ता भारत की संवैधानिक व्यवस्था को ही नष्ट करने पर आमादा हैं। उनके निशाने पर संवैधानिक संस्थाएं, संवैधानिक अधिकारी और संसदीय परंपरा हैं जिनके संरक्षण के अभाव में हमारा जनतंत्र निरापद नहीं रह सकता। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे बुनियादी अधिकारों में नाजायज कटौती हो या फिर बढ़ती असहिष्णुता का माहौल इन से किसी भी जिम्मेदार नागरिक का आशंकित होना स्वाभाविक है। कांग्रेस पार्टी से जुड़े तथा कुछ अन्य गैर-भाजपाई कानून के जानकारों और संविधान में पारंगत विद्वानों का यह मानना है कि संविधान के अक्षरशः पालन की बात करना तो बहुत दूर की बात है संविधान के बुनियादी ढांचे में लगातार छेड़छाड़ कर यह सरकार उस संविधान को नष्ट कर रही है जिसे हमारे राष्ट्र निर्माताओं ने 1950 में बनाया था। आज भारतीय संविधान का क्या नाता देश की जनतांत्रिक राजनीति से है यह सिर्फ पेशेवर राजनेताओं और राजनीतिक कार्यकर्ताओं की दिलचस्पी का विषय नहीं रह गया है। हर नागरिक की जिंदगी के बुनियादी सरोकार इस विषय से जुड़े हैं। इसीलिए फाली नारीमन की यह पुस्तक पठनीय और विचारोत्तेजक है।

फाली नारीमन इस देश के सबसे मशहूर वकीलों में एक हैं जो भारत के सोलिसिटर जनरल के पद पर रह चुके हैं और अपनी

विद्वता तथा निर्भीक निष्पक्षता के कारण अपने विपक्षियों के आदर के पात्र बने रहे हैं। उन्हें पदम् विभूषण से भी सम्मानित किया जा चुका है। नारीमन ने अपनी वकालत बुम्बई उच्च न्यायालय में उसी वर्ष आरंभ की थी जिस वर्ष देश ने इस संविधान को अपनाया। 1972 में वह दिल्ली आए और उन्होंने सर्वोच्च न्यायालय में वकालत शुरू की। उन्हें संवैधानिक कानून का विशेषज्ञ माना जाता है। 1999 में उन्हें राज्यसभा का सदस्य नामजद किया गया और 6 साल का कार्यकाल पूरा करने के बाद वे फिर से अपना पूरा समय वकालत को देते रहे हैं। इससे पहली लिखी उनकी आत्मकथा 'बीफॉर मेमरी फेड्स' चर्चित रही है। यह दूसरी पुस्तक विशेषज्ञों के लिए नहीं बल्कि आम आदमी के लिए लिखी गई है। पर इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि उन्होंने कही भी जटिल मुद्दों को अति सरलीकृत ढंग से पेश किया है। पुस्तक का शीर्षक यह स्पष्ट करता है कि वह राष्ट्र की मौजूदा हालत को लेकर अति गंभीर है।

पुस्तक के विभिन्न अध्याय आपस में बहुत अच्छी तरह गुथे हैं। पहला अध्याय राष्ट्र की परिभाषा से आरंभ होता है। बिना किसी मिथकीय पौराणिक बहस में पड़े नारीमान आधुनिक भारत के औपनिवेशिक काल में राष्ट्रीय राज्य के उद्भव में प्रकट होने से इस चर्चा को आरंभ करते हैं। आरंभ में ही वे 1888 में कभी गर्वनर जनरल की काँसिल के सदस्य रह चुके जॉन स्टूची की इस टिप्पणी को उद्धृत करते हैं कि 'यह असंभव है कि पंजाब, बंगाल, उत्तर पश्चिमी प्रांत और मद्रास में रहने वाले स्त्री-पुरुष कभी एक राष्ट्र बन सकते हैं।' दूसरे शब्दों में आजादी के बाद से आज तक के भारत का इतिहास एक आधुनिक

राष्ट्र-राज्य के निर्माण के प्रयास का लेखा-जोखा कहा जा सकता है। इस प्रयास का अभिन्न अंग स्वतंत्र भारत के लिए संविधान का निर्माण रहा है। मजेदार बात यह है कि यह काम स्वाधीनता संग्राम के दौरान ही आरंभ हो चुका था। स्वाधीनता की ललक से प्रेरित भारतीय नेताओं ने अंग्रेज शासकों से जिस जिम्मेदार और जवाबदेह प्रशासन की मांग की थी उसके प्रभाव में संवैधानिक विकास आरंभ हुआ। रेगुलेटिंग एक्ट से लेकर 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडियन एक्ट तक की प्रक्रिया एक अनवरत श्रृंखला है। नारीमन ने कई जगह दूसरी पुस्तकों का निचोड़ तटस्थता से प्रस्तुत करने के साथ ऐसी पैनी टिप्पणियां की है जो हमें राजनीतिक पक्षधरता और व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर नये सिरे से सोचने का मौका देती है। मसलन वह एक जगह प्रोफेसर ग्रैनबिल ऑस्टिन का हवाला देते हुए यह कहते हैं कि संविधान निर्मात्री सभा वह एक दलीय देश के लिए काम करने वाली अकेली पार्टी थी। यह सभा कांग्रेसी थी और कांग्रेस ही भारत का पर्याय समझी जाती थी। मगर इस बात को भुलाया नहीं जाना चाहिए कि भले ही इसके सदस्यों का चुनाव सीमित मताधिकार के आधार पर हुआ था यह वास्तव में पूरे भारत का प्रतिनिधित्व करने वाली सभा थी। इस सभा में हुए वाद-विवाद का संग्रह 11 बड़ी-बड़ी जिल्लों में किया गया है जिससे यह बात प्रमाणित होती है कि लगभग सभी राजनीतिक विचारधाराओं को मुखर होने का अवसर मिला था और विभिन्न मत बेहिचक प्रकट हुए थे। भाषाई बहुलता साम्प्रदायिक भेद-भाव, अन्तर जातीय वैमनस्य और अंग्रेजी

औपनिवेशिक कानूनों के प्रति असंतोष सभी के बारे में गंभीरता से विचार-विमर्श किया गया। नारीमन इस बात को भी बखूबी रेखांकित करते हैं कि जब नेहरू ने संविधान निर्मात्री सभा के उद्देश्यों वाला प्रस्ताव पेश किया था तब यह संकल्प लिया गया था कि संविधान में अल्पसंख्यकों, पिछड़ों और आदिवासियों के हितों को संरक्षित रखने के लिए प्रावधानों की व्यवस्था होगी। विडंबना यह है कि संविधान के प्रावधानों में तो आरक्षण के जरिए यह सिद्धांत प्रतिष्ठित कर लिया गया पर तब से आज तक व्यवहार में समाज का कमजोर तबका उपेक्षित ही रहा है। कुछ लोगों को इस बात से आपत्ति है कि आरक्षण की व्यवस्था का दुरुपयोग ही होता रहा है और इसका फायदा सिर्फ इस वर्ग की मलाईदार परत (creamy layer) को ही मिला है। दूसरी तरफ जो लोग दलित, उत्पीड़ित, शोषित अथवा अल्पसंख्यक है उन्हें उनके बुनियादी अधिकारों से वंचित रखा गया। आज का भारतीय समाज संपन्न और विपन्न सवर्ण और पिछड़ों में बंटा हुआ है। यह खाई गहरी होती जा रही है जिसके कारण सामाजिक उथल-पुथल और राजनीतिक अस्थिरता का माहौल उत्पन्न हो चुका है। नारीमन अपनी पुस्तक में इस ओर ध्यान दिलाते हैं कि बहुधा देश की सर्वोच्च अदालत जाने क्यों उस जिम्मेदारी के निर्वाह से कतराती है जिसमें उसे संविधान की रक्षा का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। उनकी राय में 1992 में इंदिरा साहनी वाले मुकदमे में सर्वोच्च न्यायलय ने ऐसा ही एक सुनहरा अवसर गंवा दिया जब वह सभी नागरिकों के लिए समान अधिकारों की गारंटी का समर्थन कर सकता था। बहुत आगे चलकर नागराज वाले मुकदमे में कम से कम 50 प्रतिशत आरक्षण की सीमा रेखा की पुष्टि की जा सकी। इसी अध्याय में नारीमन यह सवाल भी पूछते हैं कि क्यों अनुसूचित जन-जातियों या दूसरे पिछड़े वर्गों के लिए आरक्षण जैसी खास सुविधाओं की आवश्यकता है? वह हमारा ध्यान प्रसिद्ध अंग्रेजी दार्शनिक इतिहासकार, इसाहा बर्लिन, का उद्धरण देते हैं- समानता को किसी तर्क की जरूरत नहीं होती। विषमता को ही तर्कसंगत सिद्ध करने के लिए कोई कारण ढूंढना पड़ता है। यदि हम इस बात को स्वीकार कर लें तब फिर यह समझते देर नहीं लगेगी कि भारत की जाति व्यवस्था के कारण ही आरक्षण की नीति अपनाई गई है।

लेखक की शैली बेहद रोचक है और जहां कहीं वे एक बार किसी ऐतिहासिक प्रसंग को पृष्ठभूमि में लेते हैं तथा फिर कुछ ही देर बाद बिल्कुल समसामयिक किसी मुकदमे या संसदीय बहस का उल्लेख करते हैं। वे पाठक की सुविधा के लिए भारतीय संविधान के अनुच्छेदों का जिक्र तो करते ही हैं साथ ही विदेशी अदालतों के फैसलों का भी उल्लेख सही संदर्भ बतलाने के लिए करते हैं। चूंकि यह पुस्तक सिर्फ वकीलों के लिए या संविधान के छात्रों के लिए नहीं लिखी गई है इसलिए यह तरीका एक तरह से पाठ्य सामग्री के रिवीजन के जैसा लगता है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि यह बेहद उपयोगी है।

पुस्तक का दूसरा अध्याय भारत के संविधान पर ही केन्द्रित है। यहां भी वह सारे मुद्दे छुए गए हैं जो आज नागरिकों के मन को मथ रहे हैं। बुनियादी अधिकार हो या राज्य के नीति-निर्देशक तत्व, संविधान का आमुख हो या संवैधानिक संशोधनों की आवश्यकता, चुनाव आयुक्त या कैंग जैसा संवैधानिक पद हो, इन सभी पर इस अध्याय में नारीमन ने विचारोत्तेजक टिप्पणियों की हैं। खास कर आपातकाल के बाद बुनियादी अधिकारों की रक्षा में असमर्थ नजर आने वाले सुप्रीम कोर्ट की काफी आलोचना हुई है इसीलिए 'एबीएम जबलपुर बनाम शिवकांत शुक्ला' वाले मुकदमे का विस्तार से चर्चा हुई है। नारीमन ने सर्वोच्च न्यायलय की संविधान पीठ में बैठे सभी जजों के फैसलों का विवेचन बेबाकी से किया है। इसी हिस्से में राष्ट्रपति और राज्यपाल द्वारा अध्यादेश जारी करने वाले प्रावधानों का विश्लेषण भी किया गया है। वास्तविकता यह है कि राष्ट्रपति और राज्यपाल ऐसे अध्यादेश प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री अर्थात् मंत्रि परिषद की सलाह के अनुसार ही करते हैं। राष्ट्रपति और राज्यपाल को यह अधिकार है कि यदि वे चाहे तो इसे पुनर्विचार के लिए वापस भेज सकते हैं। ऐसा एकाधिक बार हुआ भी है। भले ही इस हालत में भी यदि अध्यादेश हस्ताक्षर के लिए दुबारा राष्ट्रपति को भेजा जाता है तो फिर कोई विकल्प शेष नहीं रहता। तब भी जनता के सामने यह बात साफ हो जाती है कि संवैधानिक सत्ता ने अपने कर्तव्य का निर्वाह किया है और संसद हट कर अपनी मनमानी करने पर अमादा सरकार पर एक नैतिक अंकुश लगाने का प्रयास किया है। दिलचस्प बात यह है कि अब तक केन्द्र सरकारों ने सौ

से अधिक अध्यादेश जारी किए हैं और कुछ राष्ट्रपतियों ने आँख मूंद कर बिना सोचे अपनी अनुमति प्रदान की है तो कुछ ने पुनर्विचार के लिए इन्हें भेजकर गंभीर सवाल रेखांकित किए हैं। के. आर. नारायण, वेंकट रमन और ए.पी. जे. कलाम के संस्मरणों या उनकी जीवनियों में ऐसे प्रसंगों के बारे में यथेष्ट जानकारी सुलभ है।

फाली नारीमन की पुस्तक पढ़ते वक्त इस बात का एहसास बार-बार होता है कि संविधान कोई निर्जीव पुस्तक नहीं और नहीं पत्थर की लकीर होता है। वास्तव में संविधान के प्रावधान तभी सजीव और समर्थ होते हैं जब किसी भी जनतंत्र में उसके अक्षर और आत्मा दोनों के प्रति सम्मान का भाव सभी नागरिक रखते हैं। यदि आज हमारे राजनीतिक जीवन में बार-बार अस्थिरता और असमंजस के दर्शन होते हैं तो इसका एक बड़ा कारण यह है कि संविधान को सर्वोपरि कहने की बात करने वाले इसके अनुसार आचरण नहीं करते। जिन लोगों ने इसकी रक्षा की शपथ ग्रहण की होती है वे अपनी शपथ को तोड़ते एक क्षण का विलंब नहीं करते और न ही वे संविधान की गरिमा को अक्षुण्ण रखने का महत्व समझते हैं। इसी संदर्भ में हमें डॉक्टर बी.आर. अम्बेडकर की कही एक बात याद आती है 'संविधान कपड़ों की तरह होता है जिन लोगों ने उसे अपनाया है वह उनकी शरीर की बनावट और साइज के अनुसार फिट होना चाहिए। इसके अलावा वह उनकी पसंद का भी होना चाहिए।'

इन पंक्तियों के लेखक की राय में नारीमन इस बात को भलीभांति समझते हैं पर कुछ कारणों से इस तर्क को उसके नतीजे तक ले जाने से हिचकते हैं। वह बार-बार उन राष्ट्र निर्माताओं और संविधान बनाने वालों का जिक्र करते हैं जिनके जेहन में समतापूर्ण, धर्मनिरपेक्ष जनतांत्रिक भारत का सपना था। उनमें से अधिकांश राष्ट्रीय आन्दोलन के आदर्शों से प्रेरित थे और उन्होंने राष्ट्रपिता की छत्र-छाया में देश को आजाद कराने के लिए एक लंबी लड़ाई लड़ी थी। ऊपर ग्रेनविल ऑस्टिन का जिक्र किया गया है जिनके अनुसार संविधान निर्मात्री सभा लगभग एक दलीय और लगभग पूरी तरह से कांग्रेसी थी। इस कारण कई बातों में सहमति संभव हो सकी थी।

इसके अलावा यह बात भी याद रखने

लायक है कि भारत का जो संविधान 1950 में अपनाया गया वह कोरे पन्ने पर नहीं लिखा गया था। भारत में संविधानिक विकास की एक लंबी प्रक्रिया करीब सौ साल से चल रही थी। अंग्रेज हुक्मरानों से जिम्मेदार और जवाबदेह शासन की मांग करने वाले देश प्रेमियों ने कांग्रेस पार्टी का गठन किया था, कांग्रेसी नेताओं का रवैया सुधारवादी था, क्रांतिकारी नहीं और उनकी मांगे स्वशासन के सीमित अधिकार और नस्लवादी भेदभाव पैदा करने वाले कानूनों को नरम करने वाली ही थी। कालक्रम में इसमें स्वराज और डोमीनियन स्टेट्स वाली मांग भी जुड़ गई। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मोर्ले-मिन्टो सुधार फिर साइमन कमीशन और उसके भी बाद तीन गोल मेज सम्मेलनों के जरिए यह प्रक्रिया जारी रही। यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि 1946 में जिस संविधान ने अपना काम शुरू किया उसने 1935 के उस गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट को अपना आधार बनाया जिसके अन्तर्गत 1937-38 में कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने अनेक सूबों में सरकारों का गठन किया था। एक बात जो अक्सर भुला दी जाती है वह यह है कि डॉक्टर बी.आर. अम्बेडकर ही एक अकेले व्यक्ति नजर आते हैं जिन्होंने संविधान निर्माण की इस पूरी प्रक्रिया के हर चरण में हिस्सेदारी की थी। अतः भारतीय संविधान में निरंतरता और बदलाव का अध्ययन करते वक्त उनकी भूमिका का मूल्यांकन संविधान सभा के अन्य सदस्यों के समकक्ष नहीं किया जाना चाहिए। हां, शायद अपनी उम्र और पेशे के अनुभव के कारण नारीमन इस बात को अक्सर भूलते दिखते हैं कि आज का भारत 1950 के भारत से कितना भिन्न है। उसमें वैसी समरसता नहीं और नहीं संसद में वैसी समरसता है जैसी संविधान निर्मात्री सभा में प्रतिबिंबित होती थी। केन्द्र में किसी एक राजनीतिक दल के वर्चस्व का युग समाप्त हो चुका है। आज भले ही भाजपा को संसद में स्पष्ट बहुमत प्राप्त है अनेक राज्यों में गठबंधन सरकारें काम कर रही हैं। इसके अलावा राजसभा में बहुमत के अभाव में विपक्षी दलों के साथ ताल-मेल बैठाना इस एनडीए सरकार की भी मजबूरी है। संवैधानिक संशोधन निर्विघ्न संपन्न कराने के लिए भी जिस तरह की सर्वसहमति की अनिवार्यता है उसके निकट भविष्य में कोई आसार नजर नहीं आते। आजादी के ठीक बाद के वर्षों में यह आशा की जाती थी कि शिक्षा

के प्रसार के साथ और चुनावी राजनीति का अनुभव ग्रहण करने के साथ भारत की निरक्षर विपन्न जनता में जनतांत्रिक सरकार का प्रसार होगा और समता के मूल्यां में उनकी आस्था बढ़ेगी। दुर्भाग्य से जो कुछ देखने को मिल रहा है वह उसके बिल्कुल विपरीत है। अस्मिता की राजनीति चुनावों पर लगभग पूरी तरह हावी हो चुकी है और इसके कारण देश की एकता और अखण्डता संकटग्रस्त लगती है। अन्तर्जातीय वैमनस्य हो या साम्प्रदायिक हिंसा इनका बुनियादी कारण उन संवैधानिक प्रावधानों का बेअसर होना है जिन से यह आशा और अपेक्षा थी कि वे पिछड़ों और वंचितों के हितों की रक्षा करेंगे। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की आधी से ज्यादा आबादी 30 वर्ष से कम की है और इसकी याददाश्त आजादी की लड़ाई के आदर्शों से समृद्ध नहीं है। मजहबी, जातिगत, क्षेत्रीय या भाषाई आधार पर भारत की आजादी विभाजित है और इसी का फायदा चुनावी जनतंत्र में विभिन्न राजनीतिक दल उठाते आए हैं। मुंबई के आधुनिक शहरी, उदार, समावेशी, कॉसमोपॉलिटन परिवेश में परवरिश पाए नारीमान के लिए यह सोच सकना कठिन है कि इस 'असली भारत' के लिए संविधान की बातें सिर्फ किताबी बहस का हिस्सा है उसकी अपनी जिंदगी जिस मार-काट में गुजरती है उसमें विद्वत्तापूर्ण बहसों या समानांतर अन्तर्राष्ट्रीय उदाहरणों का स्थान नहीं। यह अंतर शहरी और देहाती का ही नहीं बल्कि संपन्न, आभिजात्य वर्ग के सदस्य और विपन्न असंतुष्ट का भी है। नारीमन स्वयं एक ऐसे अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्य हैं जो अपने को वंचित या उत्पीड़ित नहीं समझता। उनकी एक परेशानी यह है कि वे आबादी के उस ब हु स ख य क हि स् से की अभिलाषाओं-आकांक्षाओं, पहचान के उफान का आकलन करने में असमर्थ है जिनकी राजनीतिक प्रतिक्रियाएँ भावावेश से संचालित होती हैं तर्क से नहीं। संविधान में वैज्ञानिक सोच को नागरिक की बुनियादी कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठित कर देने भर से नागरिक की सोच खुद-बखुद आधुनिक नहीं बन सकती और न ही समता पोषक हो सकती। हमने ऊपर कहा कि शायद अपने पेशे के अनुभव से भी नारीमन के दृष्टिकोण में एक खास तरह का झुकाव कानून और तर्क के पक्ष में है। वह यह तो स्वीकार करते हैं कि समय के अनुसार

नागरिकों की बदलती जरूरत के अनुसार कानून बदलने चाहिए पर जिन बुनियादी बातों को वह बदलाव के दायरे से बाहर मानते हैं आज बहस उन्हीं को लेकर है। मसलन धर्मनिरपेक्षता की (सेकुलरिज़्म) जो पश्चिमी अवधारणा हमारे संविधान में शामिल की गई है उसके बारे में जाहिर है आम सहमति नहीं है। अपने हाल के एक भाषण में हमारे विद्वान उपराष्ट्रपति ने एक बहुत सही टिप्पणी की है। उनका कहना था कि किसी भी धर्मनिरपेक्ष राज्य में धर्म से जुड़े मुद्दों में राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम रहना चाहिए और विभिन्न धर्मों के बीच राज्य को समसामीप्य बरकरार रखना चाहिए। पिछले दो दशक से यह भावना भारत के नागरिकों के एक तबके में घर कर रही है कि पहले कांग्रेस और फिर बाद में यू.पी.ए सरकार के कार्यकाल में वोट बैंक की राजनीति के कारण अल्पसंख्यकों का तुष्टीकरण किया जाता रहा है। अर्थात् न तो राज्य ने न्यूनतम हस्तक्षेप की नीति अपनाई है और नहीं समसामीप्य का अनुसरण किया है। जहां अल्पसंख्यकों को अपने धार्मिक संस्थानों के प्रबंधन में भूमिका दी गई है वहीं हिन्दू धर्म संस्थानों के प्रबंधन को अपने हाथ में लेने में राज्य ने कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई है। संविधान के प्रावधानों दिशा-निर्देशों के अनुसार समान नागरिक संहिता (यूनिफॉर्म सिविल कोड) को लागू करने की दिशा में इसीलिए कोई प्रगति नहीं हो सकी। ऐसा इन आलोचकों का मानना है।

संविधान पर केन्द्रित लभगभ सौ पन्नों के इस अध्याय में नारीमन ने पिछले 60-65 साल में सर्वोच्च न्यायालय के अनेक संविधानिक महत्व के फैसलों का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया है। वर्णन इतना सरस है कि कहीं-कहीं उपन्यास का मजा आने लगता है। पुराने मुकदमों के साथ-साथ वे बिल्कुल ताजा समाचार पत्रों की सुर्खियों और लेखों का उल्लेख भी करते हैं। अगला अध्याय जो काफी संक्षिप्त है हमारी संघीय व्यवस्था पर रोशनी डालता है। संघीय व्यवस्था हमारे संविधान की एक खासियत है और यह समझ पाना कठिन है कि क्यों लेखक ने इसका समावेश संविधान वाले अध्याय में ही नहीं किया है। संघीय व्यवस्था को बुनियादी अधिकारों से कम महत्वपूर्ण समझना ठीक नहीं होगा। जहां एक ओर जम्मू काश्मीर जैसे राज्य या पूर्वोत्तरी राज्य विशेषाधिकार संपन्न है

वहीं तमिलनाडु, पश्चिम बंगाल और बिहार जैसे राज्यों की केन्द्र के साथ तना-तनी हाल के वर्षों में खासकर मोदी सरकार के गठन के बाद से बढ़ती रही है। अभी हाल में उत्तराखण्ड में राष्ट्रपति शासन की घोषणा के बाद जब इस आदेश को अदालत में चुनौती दी गई तब उत्तराखण्ड उच्च न्यायलय को यह टिप्पणी करने के लिए मजबूर होना पड़ा कि केन्द्र का यह हस्तक्षेप देश में जनतंत्र की जड़ों को कमजोर करने का प्रयास लगता है।

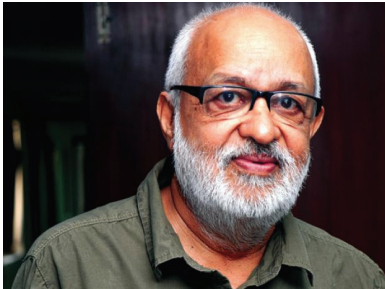
वास्तव में भारत के संविधान में जिस संघीय व्यवस्था को प्रतिष्ठित किया गया है वह भारत की एकता और अखण्डता को निरापद रखने की सबसे बेहतर गारंटी है। हमारा देश एक उपमहाद्वीप के आकार का है और भाति-भाति की विविधताओं से भरा हुआ है। सामाजिक सामन्जस्य और संतुलित आर्थिक विकास के लिए यह परमावश्यक है कि केन्द्र और भारतीय संघ में शामिल राज्यों के संबंध तनाव रहित रहे। यह चुनौती इसलिए आजादी के बाद के वर्षों में विकट बनी है क्योंकि क्रमशः कांग्रेस कमजोर होती रही है और केन्द्र तथा राज्यों में क्षेत्रीय दल ताकतवर हुए हैं जब केन्द्र में एक दल की सरकार हो और राज्यों में उसके किसी विरोधी दल की तो यह तना-तनी परेशानी का सबब बन जाती है। यह समस्या राष्ट्रपति शासन लागू करने तक सीमित नहीं है। शांति और सुव्यवस्था कानून और पुलिस प्रशासन जैसे विषय संविधान की उस सूची में शामिल है जिन पर कानून बनाने का अधिकार राज्यों को है। इसी तरह वित्तीय संसाधनों के न्यायोचित बंटवारे और विकास कार्यक्रमों के नियोजन को लेकर राज्य सरकार और केन्द्र के बीच मतभेद प्रकट होता रहता है। अन्तर्राज्यीय जल विवाद और उनके बीच पस्पर् हितों के टकराव को लेकर भी केन्द्र पर दलगत पक्षधरता अथवा जबरन अपना फैसला थोपने का आरोप लगाया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद या अति उग्रवादी वामपंथी नक्सली उपद्रवियों की गतिविधियां एक से अधिक राज्यों में एक सुनियोजित साजिश के ढंग से संचालित होती रही है और यह दलील दी जाने लगी है कि इन पर तब तक काबू नहीं पाया जा सकता जब तक हम केन्द्र और राज्यों के बीच कानून और सुव्यवस्था एवं पर्यावरण जैसे विषयों पर वर्तमान संघीय प्रणाली को संशोधित करने का प्रयास नहीं करते। जहां तक असंतुलित क्षेत्रीय विकास का प्रश्न है वह

भी एक बड़ी सीमा तक राजनीतिक पक्षधरता के कारण पैदा होता है। चुनावी राजनीति के दबाव में या अपने बिखरते वोट बैंक को निरापद रखने के लिए ऐसी लोक-लुभावन परियोजनाओं का विशेष पैकेज की घोषणा विभिन्न सरकारें करती रही हैं जो संघीय व्यवस्था के आदर्श को धराशायी कर देती है। यही बात राजनीतिक दबाव में राज्यों के पुनर्गठन के बारे में भी कही जा सकती है। नारीमन साहब संघीय व्यवस्था वाले इस छोटे से अध्याय में संघीय प्रणाली की बहु-आयामी समस्याओं का कोई संवैधानिक या कानूनी समाधान नहीं सुझाते। वे एक बार फिर बोम्बई मामले के मुकदमे का जिक्र करते हैं परन्तु घुमा-फिरा कर बात राष्ट्रपति और राज्यपाल की भूमिका तथा अध्यादेशों तक सिमट जाती है। हमारी समझ में यह बात नहीं आती कि क्यों वह केन्द्र और राज्यों के बीच विवाद या अन्तर्राज्यीय विवादों के निपटारों के लिए संविधान में प्रस्तावित सर्वोच्च न्यायलय की भूमिका पर प्रकाश नहीं डालते? कितना अच्छा होता यदि उन्होंने इस विषय पर भी उसी तरह विभिन्न न्यायमूर्तियों के फैसले उनके रुझान और उनके सोच के संदर्भ में संविधान की व्याख्या करते। संविधान की व्याख्या का विशेष एकाधिकार देश के सर्वोच्च न्यायलय को है और संसद या विधानसभा द्वारा पारित किसी भी कानून को संविधान के विरुद्ध होने के आधार पर वह उसे खारिज कर सकता है। हाल के दिनों में यह बहस काफी गर्म रही है कि क्या न्यायपालिका संविधान में निर्धारित लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन कर राज्य के दूसरे अंगों के कार्याधिकार क्षेत्र में दखलदाजी नहीं कर रही है? इसी बहस का एक हिस्सा सर्वोच्च न्यायालय के एवं उच्च न्यायालय के जजों की नियुक्ति और उच्च न्यायालय के जजों के तबादले से जुड़ा हुआ है। सत्ता के विभाजन बनाम संसद की संप्रभुता के मुद्दे भी इस बहस में उभरते हैं। भारत की संघीय व्यवस्था को परिभाषित करने के साथ-साथ उसे निरापद रखने की जिम्मेदारी सर्वोच्च न्यायालय की ही है। इसीलिए यह थोड़ा अटपटा लगता है कि अगले अध्याय की जरूरत तो लेखक ने समझी है पर इस विषय को उतनी तवज्जो नहीं दी जितनी जरूरत है।

पुस्तक के दो अंतिम अध्याय भ्रष्टाचार पर केन्द्रित हैं। इनमें से पहला भारत के सार्वजनिक जीवन में व्याप्त दैत्याकार भ्रष्टाचार

के तमाम आयामों की पड़ताल करता है- कौटिल्य के अर्थशास्त्र के युग से लेकर आज संसद में चल रही बहसों और समाचारों आदि का उल्लेख इसमें किया गया है। एक बार फिर अध्याय के अंत में जो संदर्भ और टिप्पणियां दी गई हैं उनमें बहुमूल्य सूचनाएँ, जानकारियां और अतिरिक्त विश्लेषणात्मक टिप्पणियां पाठकों के लिए न केवल दिलचस्प बल्कि फायदेमंद भी साबित होंगी। भ्रष्टाचार पर केन्द्रित दूसरा अध्याय उच्चतर न्यायपालिका में भ्रष्टाचार पर फोकस करता है। यह एक बेहद संवेदनशील विषय है जिसका जिक्र तक करना न्यायपालिका की अवमानना का दण्डनीय अपराध बन सकता है। नारीमन ने अपने व्यक्तिगत अनुभव और गहन अध्ययन के आधार पर ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिससे इस बारे में शक की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि यह हमारे जनतंत्र के लिए जानलेवा संकट कैसर के रोग के प्राथमिक लक्षणों की तरह प्रकट हो रहा है कि कब कोई छोटी सी फुंसी जानलेवा रासौली में बदल जाती है इसका पता भी नहीं चलता। इस समस्या से मुंह चुराना घातक सिद्ध हो सकता है। इसी कारण लेखक ने बहुत सोच-विचार कर इसका शीर्षक रखा है- उच्चतर न्यायपालिका में भ्रष्टाचार से जूझने की समस्या।

पुस्तक के अंत में एक छोटी सी एपेन्डिक्स भी है जिसमें पाकिस्तान और बांग्लादेश में संविधान निर्माण और संविधानों की असफलता का संक्षिप्त और सारगर्भित सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। कुल मिलाकर यह किताब लेखक की जीवनी की तरह है न केवल कानून के पेशे से जुड़े व्यक्तियों और विद्यार्थियों के लिए बल्कि राजनीतिक छात्रों के अलावा हर जिम्मेदार, जागरूक नागरिक के लिए बार-बार पढ़ने और विचार करने लायक है। प्रतियोगी परीक्षाओं के प्रत्याशियों के लिए यह बहुमूल्य जानकारियों का और विश्लेषणात्मक टिप्पणियों का अनमोल खजाना है। ■■■



प्रो. पुष्पेश पंत

महाराजा कृष्ण रसगोत्रा का नाम आज की पीढ़ी के लिए अपरिचित ही है पर एक जमाना था जब उनकी ही तूती भारतीय विदेश नीति के संदर्भ में बोलती थी। उन्होंने उस युग में विदेश सचिव के पद से अवकाश ग्रहण किया जब मंत्री या प्रधानमंत्री नौकरशाही के क्षेत्र में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करते थे तब उन जैसे शिखर पर विराजमान अधिकारियों को नीति निर्धारण के लिए काफी मौका मिलता था। रसगोत्रा भारतीय विदेश सेवा के उन अफसरों में हैं जिनकी नियुक्ति आजादी के तत्काल बाद पहली खेप में हुई थी। उनके पहले से जो अफसर साउथ ब्लॉक (विदेश सेवा के मुख्यालय) में काम कर रहे थे आइसीएस के सदस्य थे अर्थात् वह आइएफएस के वरिष्ठतम जीवित अधिकारियों में से हैं। मूलतः कश्मीरी होने के कारण उन्हें नेहरू, इंदिरा तथा राजीव के कार्यकाल में प्रधानमंत्रियों का करीबी प्रियपात्र समझे जाने का लाभ भी मिलता रहा। बहरहाल इस बारे में दो राय नहीं हो सकती कि उन्हें उनके कार्यकाल में विभाग के सबसे सुयोग्य, व्यावहारिक और अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को संरक्षण प्रदान करने वाले अधिकारियों में शुमार किया जाता था। विदेश सचिव पद पर नियुक्त होने के पहले रसगोत्रा ने अमेरिका, फ्रांस, मोरक्को, नेपाल आदि देशों में राजदूत

“ए लाइफ इन डिप्लोमेसी”

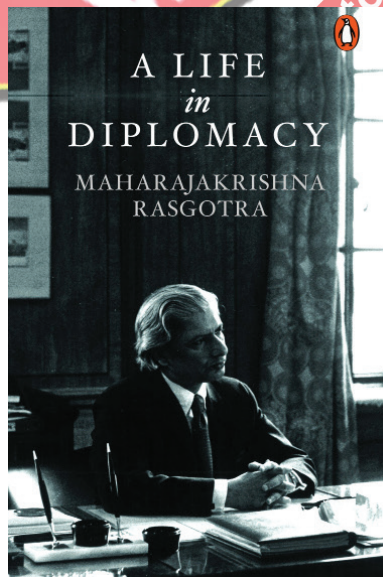
लेखक: महाराजा कृष्ण रसगोत्रा

के रूप में कार्य किया था। वह लंदन में कार्यवाहक भारतीय राजदूत भी रहे। अपने लंबे कार्यकाल में उन्होंने भारत चीन संबंधों में उतार-चढ़ाव करीब से देखे, पाकिस्तान के साथ भारत के तीन बड़े सैनिक संघर्षों के विस्फोट से जुड़े राजनय के वह गवाह ही नहीं हिस्सेदार भी रहे हैं। शीतयुद्ध में गुट निरपेक्ष भारत की भूमिका के विषय में रसगोत्रा की आंखों देखी ‘गवाही’ भारतीय विदेश नीति के अध्येताओं के लिए बहुमूल्य ही कही जा सकती है। इन तमाम कारणों से रसगोत्रा के संस्मरण उपयोगी हो सकते हैं।

इस पुस्तक का सबसे बड़ा गुण यह है कि 12 वर्ष के लेखन के लिए आज किसी प्रशंसक या आलोचक को ध्यान में रख कर अपने विचार व्यक्त करने की या उनमें संशोधन करने की कोई मजबूरी नहीं है और न ही पुस्तक लिखने से

कुछ पुरस्कार मिलने की अभिलाषा का दोषारोपण लेखक पर किया जा सकता है। उम्र के इस मुकाम पर रसगोत्रा पूरी तरह तटस्थ भाव से अतीत पर नजर डालने की स्थिति में हैं। इसीलिए हाल में प्रकाशित इस किताब को स्वाधीन भारत की विदेश नीति की पृष्ठभूमि समझने में ‘सहायक-पूरक पाठ्य सामग्री’ सूची में ‘अनिवार्यतः शामिल करने योग्य’ कहा जा रहा है।

पुस्तक रोचक और पठनीय तो है पर कुल मिलाकर निराश करती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि रसगोत्रा के कार्यकाल वाले भारत से आज के भारत का नाता जोड़ना बहुत कठिन है। आज यह कहना नादानी है कि मोदी की विदेश नीति नेहरू की विदेश नीति का ही रूपांतर या संशोधित रूप है। यह बात 1970 के दशक तक ही तर्कसंगत समझी जा सकती है जब जनता दल की सरकार में विदेश मंत्री नियुक्त होने पर अटल बिहारी वाजपेयी ने कही थी कि केन्द्र में गठित नई, पहली गैर कांग्रेसी सरकार राष्ट्रहित संवर्धन के लिए विदेश नीति के क्षेत्र में निरंतरता को जारी रखेगी। विदेश नीति के इतिहास के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक भले ही उपयोगी हो लेकिन नाटकीय रूप से बदल चुके विश्व में भारत के बदले राष्ट्रहित और उभरते शक्ति समीकरणों के बारे में किसी मौलिक या सारगर्भित, विचारोत्तेजक चिंतन के भाव यहां नहीं मिलते। लेखक का लंबा अनुभव आज के हालात में हमारे लिए मार्गदर्शक नहीं रह गया है। वह कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में भीष्म पितामह के समान स्थिति में दिखलाई देते





हैं- आदर के पात्र पर बेअसर। रसगोत्रा ने अपना राजनयिक जीवन नेहरू युग के प्रारंभिक वर्षों में आरंभ किया था। नेहरू उस समय विदेश मंत्री भी थे और विदेश सेवा के नौजवान अफसरों को उनके साथ काम करने का मौका मिल सकता था। सर गिरिजाशंकर वाजपेयी उस वक्त मंत्रालय के महासचिव थे तथा के.पी.एस. मेनन जैसे दिग्गज विदेश सचिव पद पर विराजमान थे। राजदूतों के रूप में काम करने वाले लोग सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, विजया लक्ष्मी पंडित, सरदार केएम पाणिकर और कृष्ण मेनन थे। जाहिर है कि नवयुवक रसगोत्रा इनसे अभिभूत थे। अपनी प्रारंभिक ट्रेनिंग कैंब्रिज में पूरा कर भारत लौट कर जब रसगोत्रा ने मंत्रालय में काम करना शुरू किया तब तक भारत, विभाजन की त्रासदी से कमोबेश उबर चुका था। अंतर्राष्ट्रीय मंच पर नेहरू का कद बढ़ा था। भले ही अमेरिका गुट निरपेक्ष भारत को शक की निगाह से देखता था, परन्तु राष्ट्रकुल की सदस्यता के कारण अंग्रेजी भाषी दुनिया में हमारे देश की अलग पहचान थी। स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत संघ के साथ रिश्तों में आत्मीयता बढ़ने लगी थी और तिब्बत में चीन के हस्तक्षेप के बावजूद यह संभावना नजर आ रही थी कि एशिया

की दो प्राचीन सभ्यताएं मिल कर काम कर सकती हैं। 1947-48 में कश्मीर में पाकिस्तानी घुसपैठ के बाद सैनिक मुठभेड़ की परिणति युद्ध विराम में हो चुकी थी। कुल मिला कर परिदृश्य अनुकूल था।

नौकरी के पहले पांच-दस वर्षों में विदेश सेवा के अफसर जिस स्तर पर काम करते हैं वह उन्हें प्रशासनिक कामकाज की जानकारी ही दिलाता है- नीति निर्धारण की प्रक्रिया अथवा विभिन्न देशों के साथ उभयपक्षीय रिश्तों को प्रभावित करने वाले कारकों के जटिल संबंधों से वह अनभिज्ञ ही रहते हैं। लेखक ने बहुत समझदारी दिखलाते हुए 1960 के दशक के आरंभ तक अपनी जीवनी के उन्हीं पक्षों का जिक्र किया है जिनसे तत्कालीन भारतीय राजनय की शैली और इस शैली की विरासत के बारे में पाठक अपनी जानकारी बढ़ा सकता है। लेखक ने उन्हीं व्यक्तियों और घटनाओं पर संक्षिप्त टिप्पणियां की हैं जिनका वह प्रत्यक्षदर्शी रहा है।

समस्या यह है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पहले इन्हीं विषयों पर दूसरे जानकार लोगों के संस्मरण प्रकाशित हो चुके हैं। रसगोत्रा से वरिष्ठ आइसीएस अफसर-टीएन कौल, के.पी.एस. मेनन, गुणदेविया, सुबिमल दत्त सरीखे आइसीएस, या कहीं अधिक साफगो कनिष्ठ उत्तराधिकारी नटवर सिंह, मणिशंकर अय्यर जैसे- इस किताब के पन्ने पलटते यही लगता है कि यह तो पहले से पता था।

इन पंक्तियों के लेखक की नजर में लेखक जिस पीढ़ी का नुमाइंदा है उसके लिए 21वीं सदी के भारत और विश्व को अपने अनुभवों के आलोक में परखना, समझ सकना लगभग असंभव है। मसलन 1970-71 के संदर्भ में जब रसगोत्रा हैनरी किसिंजर और निक्सन के साथ अपनी मुलाकातों का बखान करते हैं तो यह साफ नजर आता है कि वह किसिंजर से किस कदर अभिभूत हैं। वह किसिंजर की चर्चित किताब 'ए वर्ल्ड रिस्टोर्ड' से अनेक उद्धरण भी पेश करते हैं यह

प्रमाणित करने को कि किसिंजर को यथार्थवादी राजनय और अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की कितनी गहरी समझ है। इन विचारों को वह शाश्वत-सनातन सिद्धांतों की तरह प्रतिष्ठित करते नजर आते हैं। इंदिरा गांधी के प्रति निक्सन और किसिंजर का जो पूर्वाग्रह ग्रस्त द्वेष था उसकी पड़ताल करने की जहमत वह नहीं उठाते। इस नादानी के कारण ही बांग्लादेश मुक्ति संग्राम में भारत को कठिन चुनौती का सामना करना पड़ा था।

यहां एक बात का जिक्र जरूरी है। नेहरू और इंदिरा गांधी के कार्यकाल में यह धारणा आम थी कि भारतीय विदेश मंत्रालय के अधिकारी मुख्यतः सोवियत रूस समर्थक और अमेरिका समर्थक खेदों में बंटे हैं हालांकि तत्कालीन सरकार के रुझान को देखते हुए पलड़ा सोवियत संघ समर्थकों का ही भारी रहता था। प्रभावशाली विदेश सचिव टीएन कौल को रूस का विशेष मित्र माना जाता था। इस बारे में दो राय नहीं हो सकती कि रसगोत्रा साहब इस खेमे के नहीं थी। उनका स्वाभाविक रुझान पश्चिम और अमेरिका के प्रति साफ दिखलाई देता है। इसी कारण वह किसिंजर और निक्सन के प्रति अनावश्यक रूप से हमदर्द बने रहते हैं। जब बांग्लादेश का जन्म हुआ तब किसिंजर अवसाद से घिर गए थे। उनकी नीति की असफलता जगजाहिर थी और बंगाल की खाड़ी में सातवें बेड़े को भेजने के बावजूद वह भारत का मनोबल गिराने में असमर्थ रहे थे। उनका यह सोचना कि चीन-पाकिस्तान की मदद करने युद्ध क्षेत्र में उतर जाएगा निराधार साबित हो गया। सोवियत संघ भारत के समर्थन में अडिग रहा। रसगोत्रा इस सबके बाद भी किसिंजर के साथ अपनी सहानुभूति का इजहार करते यह लिखते हैं कि उस समय किसिंजर बहुत दबाव में काम कर रहे थे- वियतनाम शांति वार्ता में मनचाही प्रगति नहीं हो रही थी और लाखों अमेरिकी सैनिक दक्षिण-पूर्वेशियाई दलदल में फंसे

थे। अमेरिका की मानहानि के बिना वहां से उन्हें निकाल लाना सबसे बड़ी प्राथमिकता थी। यह याद रखने लायक है कि इस समय रसगोत्रा अमेरिका में भारत के राजदूत नहीं थे—तत्कालीन विदेश सचिव टीएन कौल सोवियत संघ के पक्षधर समझे जाते थे और श्रीमती इंदिरा गांधी के अन्य कश्मीरी सलाहकारों—डीपी धर, पीएन हक्सर, पीएन धर की तरह गुलाबी रंगत वाले समझे जाते थे। किसिंजर और निक्सन के बारे में इन सभी की राय रसगोत्रा से फर्क थी।

विडंबना यह है कि इस घड़ी जब भारत आर्थिक सुधारों के बाद अमेरिका का विरोधी नहीं बल्कि सामरिक साझेदार बन चुका है उस वक्त भी रसगोत्रा साहब के लिए अंतर्राष्ट्रीय मंच पर कोई अन्य शक्ति काबिले बयान नहीं। चीन का उल्लेख वह भारत के साथ संबंधों— मुख्यतः सीमा विवाद— के संदर्भ में ही करते हैं और हाल के वर्षों में आर्थिक रिश्तों के निरंतर विस्तार से उत्पन्न जटिलता को निरंतर नजरंदाज करते हैं। नेहरू तथा इंदिरा गांधी से अभिभूत इस राजदूत के लिए किसी अन्य नेता या नीति निर्धारक के प्रति उदार हो सकना असंभव लगता है। इन नेताओं की भूल-चूक पर लीपा-पोती का प्रयास भी इसी धारणा को पुष्ट करता है कि वह जवाबदेही या जिम्मेदारी सिर्फ सलाहकारों तक सीमित रखना चाहते हैं। मसलन शिमला समझौते के समय भुट्टो के साथ एकतरफा रियायत के लिए वह डीपी धर को उत्तरदायी मानते हैं पर यह नहीं समझा पाते कि क्यों नेहरू ने चीन के साथ मुठभेड़ के समय अमेरिका द्वारा मदद कि पेशकश को स्वीकार करने की सुविमल दत्त की राय नहीं मानी थी।

लेखक इस बात से बेखबर लगता है कि जिस समय उसने भारतीय विदेश सेवा में प्रवेश किया था तभी से नहीं वरन जब उसने करीब चालीस साल की सरकारी सेवा के बाद अवकाश ग्रहण किया था, तब से भी आज का भारत और विश्व

आमूलचूल बदल चुके हैं। राजनय की परिभाषा और कार्य प्रणाली भी बदलते समय के साथ टेक्नोलॉजी और सोवियत संघ के विलय तथा विखंडन के बाद नाटकीय ढंग से बदली है। आजकल राजनय में सफलता या असफलता व्यक्तिगत दोस्ती पर निर्भर नहीं करती। स्वयं को अतिथार्थवादी किसिंजर का प्रशंसक समझने वाले रसगोत्रा अनेक ऐसे उदाहरण जुटाते हैं जिनसे यह संदेश मिलता है कि अपनी व्यक्तिगत आत्मिय विश्वसनीयता के कारण कैसे उन्होंने एकाधिक बार संकट का समाधान किया। नेपाल में महाराजा महेन्द्र या उनके उत्तराधिकारी के शासन-काल का प्रारंभिक दौर हो, जब भारत विरोधी स्वर मुखर किया जा रहा था अपनी दुस्साहसिक प्रत्युत्पन्न मति का प्रयोग कर रसगोत्रा ने भारत के हितों को निरापद रखा इसका बखान वह विस्तार से करते हैं।

सिक्किम के भारत में विलय के बाद उग्र नेपाली प्रदर्शनकारियों की सरकार द्वारा प्रायोजित भौड़ का सामना इस भारतीय राजदूत ने दिलेरी से किया और उनके अनुसार इसी कारण आगामी कई साल तक भारत का भयादोहन करने की हिम्मत किसी नेपाली अधिकारी की नहीं पड़ी। सेवा निवृत्त होने के बाद राजीव ने उन्हें ब्रिटेन में भारत का हाई-कमिश्नर तैनात किया। तब खालिस्तानी आतंकवादियों ने उस देश में शरण ले रखी थी। जब रसगोत्रा ने ब्रिटेन के विदेश मंत्री से इस बारे में शिकायत की तो उन्हें यह उत्तर मिला कि उपद्रवी भारतीय हैं भला ब्रिटेन इस बाबत क्या कर सकता है। रसगोत्रा इतना कह कर चुप हो गए कि यह लोग भारतीय मूल के तो हैं पर नागरिक ब्रिटेन के हैं और उन्हें ब्रिटेन के विदेश मंत्री से ऐसे उत्तर की अपेक्षा नहीं थी। बात समझ में नहीं आती वह यह है कि इसके साथ ही लेखक यह भी स्वीकार करता है कि इसके बाद बाईस महीनों के कार्यकाल में ब्रिटेन के विदेश मंत्री सर ज्यौफ्री के साथ

उनके संबंध दोस्ताना बने रहे पर उन्होंने यह शिकायत दोहराई नहीं। आखिर क्यों नहीं? जो दिलेरी वह छोटे पड़ोसी नेपाल में दिखा सकते थे वह गौरांग महाप्रभुओं के देश में कहां बिला गई?

कुछ रोचक किस्से भी इस पुस्तक में दर्ज हैं कि कैसे बाद में नेहरू परिवार के घनिष्ठ बन जाने वाले हरिवंश राय बच्चन की विदेश मंत्रालय में नियुक्ति नेहरू से रसगोत्रा की सिफारिश से हुई थी। इससे पहले बच्चन रसगोत्रा की हिंदी कविताओं की प्रशंसात्मक भूमिका लिख कर उनको उपकृत कर चुके थे। लेखक का कहना है कि नई दिल्ली के उस इलाके का (जहां अधिकांश विदेशी दूतावास हैं) नामकरण चाणक्यपुरी उन्हीं के सुझाव पर किया गया।

मशहूर हस्तियों से मुलाकात भर को किसी राजनयिक की पेशेवर उपलब्धि नहीं समझा जा सकता। निक्सन-किसिंजर की ही तरह मार्गरेट थैचर, गोर्बाचोव आदि का उल्लेख नाममात्र के लिए जाने क्यों किया गया है? अपने पूर्ववर्ती आइसीएस के महारथियों और अपने साथ के पहली खैपू के भारतीय विदेश सेवा के अफसरों की तारीफ तो वह करते हैं परन्तु किसी जूनियर अफसर की प्रतिभा या योग्यता का उल्लेख नहीं करते।

इंदिरा गांधी के कार्यकाल में विदेश मंत्री रहे स्वर्ण सिंह के राजनयिक कौशल की प्रशंसा वह बेहिचक करते हैं। चीन के मार्शल चैन यी के साथ इंडोनेशिया में नॉक-ड्रॉक में बिना उत्तेजित हुए कैसे सरदार साहब ने पिंडी-जकार्ता पीकिंग धुरी की साजिशों को नाकाम किया इसका वर्णन बहुत रोचक तरीके से किया गया है। कैसे राजनयिक भाषा का कुशल उपयोग कर विपक्षी को उलझा 'मोहलत' प्राप्त की जा सकती है इसको स्वर्ण सिंह से बेहतर कोई नहीं जानता था। इसी तरह आज लगभग पूरी तरह भुला दिए गए वरिष्ठ कांग्रेसी नेता जगजीवन राम के सहज सौम्य गरिमामय व्यक्तित्व

का जिक्र लेखक ने बखूबी किया है। बाबू जी के नाम से जाने जाने वाले जगजीवनराम 1971 में रक्षा मंत्री थे और किसिंजर-निक्सन की धौंस-धमकी को नाकाम करने, सैनिकों का मनोबल बनाए रखने में इस अनुभवी नेता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

किताब के अंत में परिशिष्ट के रूप में कुछ ऐसी सामग्री जोड़ी गई है जिससे यह जान पड़ता है कि लेखक की मंशा अपने को मौलिक चिंतक तथा भविष्यदृष्टा के रूप में प्रस्तुत करने की भी रही है। 21वीं सदी के लिए कौटिल्य से प्रेरित एक नए मंडल का रेखा चित्र यहां देखने को मिलता है पर उसकी व्याख्या का कोई प्रयास नहीं किया गया है। इसी तरह नेहरू के नाम सरदार पटेल का वह पत्र जिसमें उन्होंने नेहरू को चीनी खतरे के प्रति आगाह किया था पहले भी कई जगह छप चुका है और जबरन थोपी गई, ऐतिहासिक सामग्री ही लगता है।

पुस्तक का बड़ा हिस्सा मनोरंजक किस्सागोई को समर्पित है। ऐसी कोई जानकारी पाठक को नहीं मिलती जिससे विषय पर नयी रोशनी पड़ती हो। लेखक के लिए विदेश नीति और राजनय का रिश्ता स्वयं सिद्ध है। रसगोत्रा की नजर में राजनय की परिभाषा 'राजनयाचार' (प्रोटोकौल) तथा व्यक्तिगत संपर्कों के माध्यम से राष्ट्रहित साधन तक सीमित नजर आती है। राष्ट्रहित के सामरिक, आर्थिक, सांस्कृतिक पहलुओं के अंतर्संबंध को टटोलने की कोई जरूरत वह महसूस नहीं करते। विदेश सचिव के रूप में अपनी किसी पहल या यादगार अनुभव को अपने लंबे राजनयिक अनुभव के परिप्रेक्ष्य में रखकर भारतीय राजनय के बारे में किसी सारगर्भित निष्कर्ष तक पहुंचने का प्रयास वह नहीं करते। राजदूत मेजबान के रूप में दी दावतों का उल्लेख तो वह करते हैं पर किसी भी देश में जहां उन्होंने काम किया है वहां के लेखकों, कलाकारों, चिंतकों से मुलाकात-बातचीत

का जिक्र नहीं किया गया है। नटवर सिंह तथा अन्य वरिष्ठ राजनयिकों के संस्मरणों की तुलना में यह 'राजनयिक जिंदगी' बहुत सतही तौर पर 'जी' गई लगती है। यह भी पता चलता है कि शिखर के पद तक पहुंचने भर से ऐतिहासिक समझ या दूरदर्शी सूझ स्वयंमेव हासिल नहीं हो जाते। शीत युद्ध, गुटनिरपेक्षता के अलावा कोई अन्य मुद्दा रसगोत्रा के लिए उल्लेखनीय नहीं। पाकिस्तान, चीन तथा नेपाल जैसे पड़ोसियों का भारवहन ही उनकी नजर में भारतीय विदेश नीति तथा राजनय को व्यस्त रखता रहा है। ऐसा जान पड़ता है कि लेखक की नजर में कोई दूसरा मुद्दा इस चुनौती की बराबरी नहीं कर सकता।

वर्तमान विश्व में समसामयिक सार्वभौमिक मुद्दे मानवाधिकार, आतंकवाद और पर्यावरण हैं। शीत युद्ध के युग का अनुभव आज सफल राजनय के लिए बहुत सार्थक नहीं। राज्योत्तर राजनय और विश्व व्यापार संगठन की व्यवस्था ने हर राज्य के लिए नई चुनौतियां पेश कर दी हैं। सामरिक शब्द नए अर्थ ग्रहण कर चुका है। राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के संदर्भ में गैर पारंपरिक सुरक्षा-ऊर्जा सुरक्षा तथा खाद्य सुरक्षा-को सैनिक सुरक्षा से कम महत्वपूर्ण नहीं समझा जा सकता। हाल के चार-पांच वर्षों में जो विदेश सचिव सेवा निवृत्त हुए हैं उनमें से अनेक इन उभरते सवालों से जूझते रहे हैं। विदेश राज्यमंत्री रहे शशि थरूर हों या पूर्व काबीना मंत्री जसवंत सिंह उदीयमान भारत की भूमिका का विश्लेषण विस्तार से कर चुके हैं। रसगोत्रा से कहीं कम उम्र पर अब सेवानिवृत्त मणि दीक्षित, श्याम सरन तथा शिवशंकर मेनन बौद्धिक तेजस्विता में किसी प्रखर विशेषज्ञ प्राचार्य से कम नहीं। मूलतः संस्मरणात्मक शैली में लिखी यह पुस्तक इनके लेखन की तुलना में हल्की ठहरती है।

एकाध भूली बिसरी ऐसी जानकारियां अंतिम छोटे से भाग में छुपी हैं जो

नेहरू की नादान नासमझी के कारण भारत के राष्ट्रहित को पहुंचे भयंकर नुकसान का लेखा-जोखा तैयार करने में हमारी मदद कर सकते हैं। अपने अतिशय नेहरू-इंदिरा-राजीव प्रेम के बावजूद रसगोत्रा यह दर्ज करते हैं कि 1947-48 में जब भारत और पाकिस्तान कश्मीर को लेकर युद्धरत थे तब दोनों ही देशों की सेनाओं की सर्वोच्च कमान अंग्रेज अफसरों के हाथ में थी। इससे भी विचित्र बात यह है कि पाकिस्तानी एवं भारतीय जनरल पूरे संघर्ष के दौरान एक दूसरे से नियमित युद्ध क्षेत्र की गतिविधियों के बारे में पत्राचार करते रहे थे।

आज जो दस्तावेज विदेश में सार्वजनिक हैं (भले ही भारतीय अभिलेखागार में यह अत्यंत संवेदनशील गोपनीय वर्गीकरण के कारण तालाबंद हों) यह दोनों ही महानुभाव लंदन स्थित अपने हाकिमों के निर्देशानुसार काम कर रहे थे। युद्ध विराम का फैसला तभी लिया गया जब यह सुनिश्चित कर लिया जा सका कि अपनी सामरिक सुरक्षा के लिए आवश्यक जमीन के हिस्से पर पाकिस्तानी सेना कब्जा कर चुकी है। इसी तरह जब नेहरू ने भविष्य में भारत की स्थिति मजबूत करने के लिए पुंछ के इलाके में आक्रामक तेवर अख्तियार करने की मांग की तो अंग्रेज जनरल ने यथेष्ट सैन्य बल के अभाव में ऐसा करने में असमर्थता जाहिर की। लेखक दो टूक इस बात को कबूल करने के लिए मजबूर है कि आजादी और देश के विभाजन के बाद इन विदेशी फौजी अफसरों को सेना की कमान सौंपना निश्चय ही राष्ट्रहित में नहीं था। भले ही लेखक ने बात आगे नहीं बढ़ाई है पर पाठक खुद पूछ सकते हैं कि क्या इसी कारण विभाजन के बाद भड़के सांप्रदायिक दंगों का रक्तपात इतना विकराल रूप धारण कर सका था क्योंकि विदेशी जनरल यह दर्शाना चाहते थे कि उनके अभाव में भारत और पाकिस्तान कितने कमजोर और लाचार थे? □



मणिकांत सिंह

जब से नरेन्द्र मोदी भारत के प्रधानमंत्री बने हैं तब से भारत की आर्थिक क्षमता और महाशक्ति के रूप में उनके उदय के बारे में सरगर्मियां काफी तेज हो गई हैं। हाल में अनेक ऐसी किताबें प्रकाशित हुई हैं जिनमें सामरिक विशेषज्ञों और अर्थशास्त्रियों ने विस्तार से भारत की भावी संभावनाओं का विश्लेषण किया है। अक्सर यह बात दोहराई जाती है कि क्या भारत हमेशा भविष्य की संभावना ही बना रहेगा या कभी महाशक्ति बनने का उसका सपना साकार नहीं होगा। इस पुस्तक के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि लेखक ने इसी गरम बहस में योगदान देने के लिए जल्दबाजी में यह पुस्तक लिख डाली है। ऐसा सोचना तथा सिर्फ शीर्षक के आधार पर किसी पूर्वाग्रह ग्रस्त नतीजे तक पहुंचना लेखक के साथ अन्याय होगा। पुस्तक के लेखक भले ही पेशेवर अर्थशास्त्री न हों परंतु वे बरसों से आर्थिक समाचारपत्रों का संपादन करते रहे हैं और इकॉनॉमिक टाइम्स, बिजनेस वर्ल्ड और बिजनेस स्टैंडर्ड के संपादक रह चुके हैं। उनकी जितनी दिलचस्पी आर्थिक विषयों में है उससे कम राजनीतिक और सामाजिक बदलाव में नहीं। उनके परिचितों-मित्रों में सभी दलों के चोटी के राजनेता और भारतीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालयों में पढ़ाने वाले अर्थशास्त्री शामिल हैं। खुद निनन

द टर्न ऑफ द टॉर्टीस:

द चैलेंज एण्ड प्रॉमिस ऑफ इंडियाज फ्यूचर

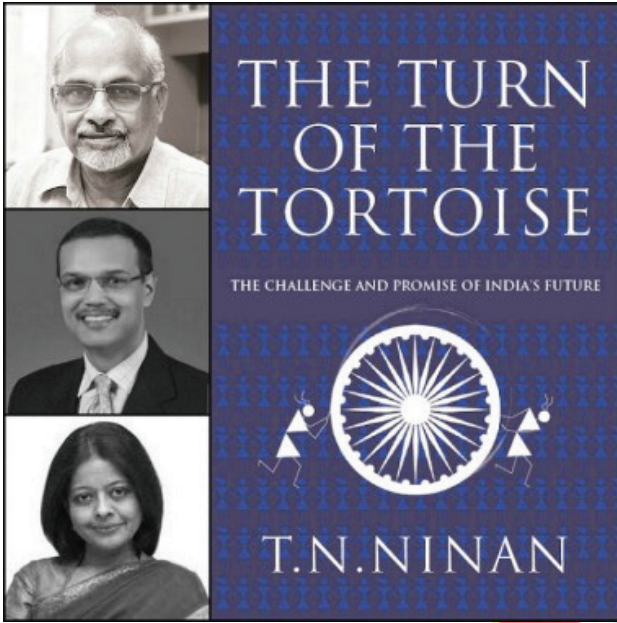
लेखक: टी.एन निनन

किसी राजनीतिक दल से नहीं जुड़े और न ही किसी के पक्षधर हैं। हां, इतना जरूर है कि वे आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के समर्थक हैं। चाहे तो आप इसे एक खास तरह का पूर्वाग्रह कह सकते हैं पर मार्क्सवादी, साम्यवादी पार्टी के सदस्यों को छोड़ शायद ही आज भारत में कोई ऐसा राजनीतिक दल या नेता होगा जो अपने को आर्थिक सुधारों का या भूमंडलीकरण का विरोधी कहता हो। जो थोड़ा बहुत फर्क एक या दूसरे दल के बीच है वह सिर्फ इतना है कि बाजार के तर्क को स्वीकार करते हुए सामाजिक न्याय को एक गरीब और विषमता भरे देश में किस रफ्तार से लागू किया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में भूमंडलीकरण को मानवीय चेहरे के साथ अपनाने को लेकर

ही मतभेद या मतैक्य देखने को मिल रहा है। हमारी समझ में यह पुस्तक इसलिए भी पठनीय है कि भारत पर भूमंडलीकरण के पिछले दो दशक में प्रभाव को समझने में यह हमारी सहायता कर सकती है।

पुस्तक 6 भागों में विभाजित की गई है। इनमें प्रत्येक भाग में (अंतिम भाग को छोड़कर) में 3 या 4 छोटे-छोटे अध्याय हैं। अंतिम भाग में आगामी दशक के बारे में दूरदर्शी तरीके से तर्कसंगत भविष्यवाणी करने का प्रयास कर रहा है परंतु उसे निष्कर्ष का नाम नहीं दिया जा सकता। पहला हिस्सा एक तरह से बहस के लिए मंच तैयार करने वाली भूमिका जैसा है। लेखक ने बहुत रोचक तरीके से यह बात आरंभ में ही साफ कर दी है कि भारत महाद्वीप के आकार वाला देश है जिसकी





विविधता चकरा देने वाली है। यह आकार भारत के विकास और प्रगति में सहायक भी बन सकता है और अक्सर बहुत बड़ी बाधा भी पेश करता रहा है। लेखक की यह टिप्पणी विचारोत्तेजक है कि भारत की तुलना अलग-अलग संदर्भों में इसी तरह के आकार वाली क्षेत्रीय शक्तियों या ऐसी शक्तियों से की जाती रही है जो बहुराष्ट्रीय इकाइयों का नेतृत्व करती है। लेखक बड़ी बुद्धिमता से इस बात को रेखांकित करता है कि जिस तरह हाथ की पांचों उंगलियाँ बराबर नहीं होती वैसे ही सिर्फ हाथ की नापजोख से भारत के बारे में कोई खास अर्न्तदृष्टि प्राप्त नहीं की जा सकती। तुलनाएँ अगर सही ऐतिहासिक और वर्तमान सामाजिक संदर्भ में नहीं की जाए तो हमें गलत नतीजों तक ही पहुँचा सकती हैं। पहले भाग के दूसरे अध्याय का शीर्षक है द लास्ट ग्रेट फ्रंटियर-अंतिम महान सीमांत। इसकी शुरु की पंक्तियाँ ही हमारा साक्षात्कार एक कड़वे सच से कराती है। वर्ष 2014 में भारत की प्रतिव्यक्ति औसत राष्ट्रीय आय विश्व की औसत राष्ट्रीय आय का छठा हिस्सा ही थी। हमारी बराबरी में औसत राष्ट्रीय प्रतिव्यक्ति आय में करने वाले दूसरे देश

लाओस, जांबिया और सूडान जैसे देश थे। हमारी अर्थव्यवस्था का आकार चाहे अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर तीसरे या चौथे स्थान पर हो हम इस बात को नकार नहीं सकते कि हमारे आकार का तिलस्म बड़ा भ्रामक है। एक दशक तक लगातार सात प्रतिशत आर्थिक विकास दर के बाद भी भारत को अगली पायदान तक पहुँचने में दिक्कत हो सकती है। वर्ष 2014 में ही फिलिपीन्स की राष्ट्रीय प्रतिव्यक्ति आय भारत की प्रतिव्यक्ति आय से पोने दो गुना थी। भारत का आंकड़ा 1626 अमेरिकी डॉलर था तो फिलिपीन्स का 2865 अमेरिकी डॉलर।

भारत की जिस सफलता का बारंबार उल्लेख किया जाता है- अंतरिक्ष में उपग्रह भेजना परमाणविक ऊर्जा का उपयोग, सूचना क्रांति और औषधी निर्माण में प्रगति- इन सभी से हमारी सवा अरब आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा ही प्रभावित हुआ है। इसका अधिकतर लाभ भी शहरी एवं शिक्षित मध्यवर्ग को ही मिला है। इन क्षेत्रों में रोजगार के मौके पैदा हुए हैं उन्होंने एक खास तरह के आर्थिक असंतुलन को ही जन्म दिया है। मसलन सिलिकॉन वैली और साइबराबाद के रूप में पहचान हैदराबाद और बैंगलोर की ही हो सकी है। भारत के साथ जुड़े और प्रगतिशील उपग्रह पुणे और गुड़गांव देश के पिछड़े भूगोल से अलग-थलग ही बने रहे हैं। आज भी शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पाद का एक बहुत छोटा हिस्सा ही (चार प्रतिशत से कम) निवेश होता है।

फिर इसमें अचरज की क्या बात कि हमारी उत्पादकता और हमारे श्रमिकों की कार्य-कुशलता विकसित अर्थव्यवस्थाओं से कहीं कम है। उदाहरण के लिए भारत में कुशल श्रमिक की पगार अमेरिका में उसी तरह के श्रमिक या कारीगर की प्रति घंटा पगार (अमेरिकी डॉलर तीस) का दसवा हिस्सा भी नहीं है। यह ठीक है कि थोड़े समय तक हम सस्ते श्रम के कारण प्रतियोगी रह सकते हैं पर दीर्घकालीन दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में हम कार्य-कुशलता या गुणवत्ता के अभाव में प्रतिस्पर्द्धी नहीं बने रह सकते।

इसी अध्याय में लेखक एक और गलतफहमी को दूर करने का प्रयास करता है। यह सच है कि विनिर्माण क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करने की गुंजाइश है और भारत अपनी उत्पादकता अनेक प्रकार से बढ़ा सकता है मगर उसका मानना है कि इस क्षेत्र में रोजगार पैदा करने के अवसर बहुत अधिक नहीं हैं। आज हमारे सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 17 प्रतिशत हिस्सा इस क्षेत्र में लगा है। अगले पांच-सात वर्ष में इसे पच्चीस प्रतिशत तक पहुँचाना दिवा स्वप्न ही कहा जा सकता है। कारखानों और फैक्ट्रियों के स्वाचालित मशीनीकरण से इस क्षेत्र में श्रमिकों की जरूरत निरंतर कम होती जाएगी। आज कुल श्रमिकों का 22.3 प्रतिशत हिस्सा ही इस क्षेत्र से रोजगार पाता है जबकि चीन में यह आंकड़ा 28.7 प्रतिशत है। जो मजदूर या श्रमिक खेती-बारी से बिछुड़कर शहरों का रुख कर रहे हैं उनमें से अधिकांश सेवा क्षेत्र में खपते रहे हैं। कल-कारखाने में कमर तोड़ मेहनत करने वाले मजदूर आसानी से आज भी नहीं मिलते यहां एक और बात याद रखने लायक है कि चीन में सरकार बिना किसी हिचक या अंकुश के श्रमिकों को विनिर्माण क्षेत्र में झोंक सकती थी। उसकी कोई मजबूरी श्रमिकों के कल्याण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कानूनों को लागू करने की नहीं थी और न ही श्रमिक संगठनों के आन्दोलन

पुस्तक समीक्षा

की कोई चिंता। जनतांत्रिक भारत के लिए यह संभव नहीं।

लेखक का मानना है कि जाने क्यो अर्थशास्त्रियों का ध्यान कृषि क्षेत्र की ओर नहीं जाता जबकि भविष्य में बड़े पैमाने पर रोजगार पैदा हो सकता है। यदि इस ओर ठीक से ध्यान दिया जाए तो अब तक देश में व्याप्त असंतुलित विकास का उपचार भी किया जा सकेगा।

पुस्तक का तीसरा भाग बहुत दिलचस्प और विचारोत्तेजक है जिसमें चार छोटे-छोटे अध्यायों में राज्य और नागरिकों के संबंधों पर रोशनी डाली गई है। वास्तव में यह भाग दूसरे भाग से जुड़ा है जिसमें उद्यमिता और एक मनमौजी राज्य में भाई-भतीजावाद के कारण उत्पादकता को हुए नुकसान की चर्चा की गई है। यहां तक पहुंचने के पहले इस बात का सर्वेक्षण किया जा चुका है कि भारत में क्या कुछ काम करता है और क्या नहीं। यह बात समझने और समझाने के लिए बहुत श्रम करने की जरूरत नहीं कि राज्य ही सर्वशक्तिमान है जो उन नियमों-कानूनों का निर्माण करता है जिनसे अर्थव्यवस्था संचालित होती है। श्रमिकों या किसानों के लिए कल्याणकारी कार्यक्रम हो अथवा उनको दिए जाने वाले ऐसे संरक्षण जिनके बिना उनकी उत्पादकता या कार्यकुशलता नहीं बढ़ाई जा सकती या फिर एक ऐसा समतल मैदान तैयार करना जिसमें सभी उद्यमी, पूंजीपति-उद्योगपति बिना किसी आशंका-चिंता के पूंजी निवेश कर सकें-राज्य की ही जिम्मेदारी है। यदि राज्य अपने इस कर्तव्य पालन में असमर्थ रहता है तब भी विकास या न्याय की बात करना बेमानी हो जाता है। यू.पी.ए. के दूसरे कार्यकाल में सरकार की निष्क्रियता के कारण ही भारतीय राज्य की छवि आशा-अपेक्षा से कम काम करने वाली बन गई थी। आर्थिक सुधारों के नाम पर जो प्रयोग किए जा रहे थे वे टुकड़ों में और आधे मन से अपनाए गए लग रहे हैं। राज नेताओं और नौकरशाहों के साथ

गठजोड़ कर कुछ उद्यमियों ने सार्वजनिक संसाधनों को अंधाधुंध लूटना-खसोटना शुरू कर दिया। भ्रष्टाचार का आकार दैत्याकार हो गया। 2-जी घोटाला, कोलगेट काण्ड और इससे पहले राष्ट्रकुल खेलों के आयोजन से जुड़ी फिजूलखर्ची सिर्फ कुछ चुनिंदा उदाहरण हैं। भले ही इस पुस्तक के प्रकाशन तक ऑगस्ता हेलिकॉप्टरों की खरीद से जुड़ा घपला प्रकट नहीं हुआ था पर इससे भी लेखक का तर्क पुष्ट ही होता है कमजोर नहीं। लेखक का मानना है कि भले ही इन सभी मामलों में कन्ट्रोलर और अकाउंटेंट जनरल तथा सर्वोच्च न्यायालय की सतर्कता के कारण नुकसान को एक हद तक रोका जा सका और भ्रष्टाचार के लिए जिम्मेदार राजनेताओं और नौकरशाहों में एकाध को कठघरे में भी खड़ा किया गया। कुल मिलाकर यह संकट अभी बना हुआ है। भ्रष्टाचारी भाई-भतीजावाद का उन्मूलन तब तक नहीं हो सकता जब तक राजनीतिक प्रणाली में और नौकरशाही में संरचनात्मक बुनियादी परिवर्तन नहीं किया जाता।

लेखक ने बहुत विस्तार से इस बात पर रोशनी डाली है कि कैसे उदारीकरण के बाद भी भारत में अप्रत्यक्ष रूप से लाइसेंस परमिट राज जारी है। इसके दो उदाहरण उन्होंने पेश किए हैं। पर्यावरण के संरक्षण के नाम पर जो व्यवस्था लागू की गई है वह काफी सख्त है और बिना पर्यावरण से अनुमति लिए कोई उद्यमी किसी बड़े संयंत्र की स्थापना नहीं कर सकता। जब उड़ीसा में नियामगिरी क्षेत्र में वेदांता अलुमिनियम का संयंत्र स्थापित करना चाहता था तब यू.पी.ए. सरकार केन्द्र में शासन कर रही थी और जयराम रमेश पर्यावरण मंत्री थे। उन्होंने इस उद्यमी को इस बात की इजाजत नहीं दी। मनमोहन सिंह इससे बहुत परेशान हुए और उन्होंने जयराम रमेश को अपने दफ्तर में बुला कर उनके अडियल रवैये पर काफी डांट-फटकार सुनाई। जयराम रमेश की परेशानी यह थी कि उनकी

पार्टी के उपाध्यक्ष राहुल गांधी इस मुद्दे पर स्थानीय आदिवासियों का समर्थन कर रहे थे जिनका मानना था कि जिस पर्वत की गोद में अलुमिनियम की खदान थी वहां उनके देवता निवास करते हैं और इस संयंत्र की स्थापना से न केवल पर्यावरण का नुकसान होता बल्कि उनकी पारंपरिक जीवनशैली भी संकटग्रस्त होगी। मनमोहन सिंह की परेशानी यह थी कि अब तक अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उनकी छवि बुरी तरह धूमिल हो चुकी थी उनके आलोचक यह कहने लगे थे कि वह सोनिया और राहुल के हाथों से नचाए जाने वाले कठपुतले से अधिक कुछ नहीं है और कुछ भी नहीं कर सकते।

मनमोहन सिंह इन कटाक्षों से तिलमिला रहे थे और वे यह प्रमाणित करने को बेताब थे कि वे एक सुयोग्य अर्थशास्त्री हैं तथा वे अनुभवी प्रशासक भी हैं और भारतीय आर्थिक विकास की धीमी पड़ती विकास दर को फिर से गतिशील बना सकते हैं। जब इस काम में उन्हें मनोवांछित सफलता नहीं मिली तब जयराम रमेश का विभाग बदल दिया गया। पर कुछ ही समय बाद नई पर्यावरण मंत्री जयंती नटराजन को भी देशी-विदेशी उद्यमी अपनी राह का रोड़ा समझने लगे। कुछ ऐसी ही स्थिति तब भी पैदा हुई जब जिंदल समूह ने उड़ीसा राज्य में ही अपने एक इस्पात संयंत्र को सुचारू रूप से चलाने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर एक बिजली घर लगाया था मगर जब उड़ीसा सरकार से अनुमति प्राप्त करने के बाद भी केन्द्र सरकार से इसकी मंजूरी नहीं मिली तब यह परियोजना भी खटाई में पड़ गई। इन दोनों ही उदाहरणों के कुछ ऐसे पक्ष हैं जो हमें बहुत कुछ सोचने को मजबूर करते हैं। पहली विचारणीय बात तो यह है कि हजारों करोड़ रुपयों की लागत वाली इन योजनाओं के प्रस्तावक वे उद्योगपति थे जो केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के सदस्य थे या उसके समर्थक थे।

यदि इसके बावजूद उनको मनचाहे काम करने में अड़चन आ रही थी तो क्या इसका सबसे बड़ा कारण यह नहीं था कि जिन राज्यों में वे अपनी औद्योगिक इकाइयां स्थापित करने की योजना बना रहे थे वहां गैर कांग्रेसी दल शासन कर रहे थे। यह आलोचना बिल्कुल बेबुनियाद नहीं कही जा सकती कि कुछ मामलों में अड़चने इस कारण भी लगाई जा रही थी ताकि विपक्ष वाले राज्यों को फायदा न हो सके। विडंबना यह है कि कांग्रेस के सदस्य नवीन जिंदल को अपने परिवार के उद्योगों के हित साधन के लिए भाजपा शासित छत्तीसगढ़ जैसे इलाकों में विशेष सहूलियते और सुविधाएं जुटाने में कभी कोई दिक्कत नहीं आई। यही बात कर्नाटक राज्य में बेलारी जिले के रेड्डी बंधुओं के ऊपर भी बखूबी लागू होती है।

राज्य में सरकार चाहे भाजपा की हो या कांग्रेस की उन्हें लाखों-करोड़ों रुपयों का अपना कारोबार निरंकुश लगभग गैर कानूनी ढंग से चलाने में कभी कोई रुकावट महसूस नहीं हुई। अनुमान लगाया जाता है कि रेड्डी बंधुओं का यह घोटाला (जिसका सिर्फ एक हिस्सा जो पकड़ा गया पैत्तीस लाख टन लौह आयस्क का था) उसकी कीमत 60 हजार करोड़ रुपये से अधिक थी। जब यह आपराधिक मामले सामने आए तब ओलोचकों के बचाव में यह तर्क दिया गया कि यदि उनके साथ सामान्य अपराधियों जैसा सुलूक किया जाएगा तब फिर भारत की आर्थिक प्रगति निरापद नहीं रह सकती। जिस लौह अयस्क या दूसरे खनिजों का निर्यात बेलारी बंधु, जिंदल परिवार और गोवा के उद्यमी कर रहे थे- उसके खरीदार राष्ट्रों में जापान, कोरिया आदि शामिल थे और यह तर्क दिया जा सकता था कि एकाएक इनके कारोबार को बंद करने से भारत का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी असहनीय नुकसान उठा सकता है। जब उड़ीसा में पोस्को परियोजना स्थगित की

गई तब कोरिया ने यह फैसला किया कि भारत सरकार के असमंजस के कारण उस देश में पूंजी निवेश निरापद नहीं समझा जा सकता। इससे निश्चय ही दूसरे विदेशी निवेशक भी प्रभावित हुए।

यहां सवाल यह उठता है कि क्या भारत की आर्थिक विकास की दर तेज रखने के लिए यह अनिवार्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, निर्यात और विदेशी पूंजी को सर्वोपरि प्राथमिकता दी जाए। इसके साथ ही जुड़ा सवाल यह भी है कि क्या कार्यकुशलता और उत्पादकता को बढ़ाने के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धी बने रहने की एक शर्त यह भी है कि इतने बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार को अनदेखा किया जाए। अगर यह बात मान भी ले कि लाखों-करोड़ों रुपयों की परियोजनाएं निश्चय ही बड़े पैमाने पर रोजगार पैदा करती हैं और इनके कारण आधारभूत सुविधाओं में भी सुधार होता है तब भी क्या किसी जनतंत्र में जहां कानून का राज हो ऐसे आर्थिक विकास को देर तक कायम रखा जा सकता है? जिसके परिणाम अंततः सामाजिक विषमता को बढ़ाने वाले ही हो सकते हैं। दुर्गम-देहाती इलाके में जहां की जनसंख्या आदिवासी बहुल और निर्धन हो स्थानीय लोगों के लिए रोजगार के साधन औद्योगिकरण के कारण बढ़ते नहीं। बड़े-बड़े संयंत्रों की स्थापना उन्हें विस्थापित ही करती है और आधुनिक शरणार्थी बना देती है। अब तक का अनुभव यही दर्शाता है कि आधारभूत सुविधाओं में सुधार का लाभ भी उन्हें बहुत कम मिल पाता है।

राजनीति के विद्वानों के लिए इस तरह की समस्याएँ दलगत चुनावी राजनीति अथवा संघीय व्यवस्था के अन्तर्द्वंद्वों का उदाहरण हो सकती है पर अर्थशास्त्रियों की चिंता के विषय दूसरी तरह के होते हैं। इस बात को अनदेखा करना कठिन है कि भूमंडलीकरण बाजार के तर्क को पूरी तरह स्वीकार करता है और उत्पादकता

बढ़ाना तथा अर्थव्यवस्था को विश्वव्यापी रूप से अन्तर्निर्भर और कार्यकुशल बनाना ही उसका मकसद है। भूमंडलीकरण के समर्थकों का मानना है कि एक बार उत्पादकता बढ़ने और आर्थिक विकास तेज होने से सभी को देर-सवेर लाभ होगा और उनके जीवनयापन स्तर में सुधार संभव होगा। अक्सर यह बात भी कही जाती है कि जैसे-जैसे समाज संपन्न होता है और जनतंत्र वयस्क होता है तो उसमें राजनीतिक और नौकरशाही का भ्रष्टाचार कम होने लगता है। सरकारी काम-काज में पारदर्शिता बढ़ने लगती है। पर लेखक ने अपनी इस पुस्तक में जितने भी उदाहरण दिए हैं उनसे यही प्रमाणित होता है कि ऐसा नहीं है अपितु विशेषकर भारत में समृद्धि का भण्डार बढ़ने के साथ भ्रष्टाचार का पैमाना भी दर्दनाक रूप से बढ़ा है। भाई-भतीजावादी उद्यमियों की कोई रूचि उत्पादन बढ़ाने में नहीं हुई थी वे सिर्फ सरकारी-सार्वजनिक संसाधनों को लूट कर अपना लाभ बढ़ाना चाहते हैं। इसकी सबसे अच्छी मिसाल 2-जी घोटाला है।

यहां इस प्रकरण का विस्तार से विवरण आवश्यक नहीं क्योंकि इसके साथ जुड़े लगभग सभी पहलुओं की जानकारी पक्ष या विपक्ष की तरफ से अखबारों के माध्यम से पाठकों को सुलभ है। फिर भी जिस बात को रेखांकित किया जाना जरूरी है वह यह है कि यह निलामी सभी तरह के नियम कानूनों को ताक पर रख कर की गई थी और अपने लोगों को फायदा पहुंचाने के लिए तत्कालीन दूरसंचार मंत्री ए-राजा ने भयंकर अंधेरगदी कर दी थी। एक बार बुलाने की घोषणा सार्वजनिक रूप से करने के बाद निलामी की शर्तें मनमाने ढंग से बदली गईं और जितनी अफरा-तफरी में यह लाइसेन्स बाँटे गए (पहले आओ पहले पाओ) उससे यह साफ नज़र आता है कि कुछ उद्योगपतियों को पहले से ही वह सब जानकारी सुलभ करा दी गई

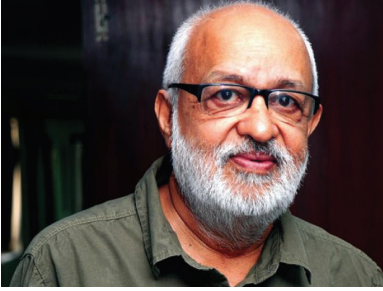
थी। इस पूरे प्रकरण में कैंग के अनुसार भारत सरकार को पौने तीन लाख करोड़ रुपयों का नुकसान हुआ। तत्कालीन केन्द्रीय मंत्री कपिल सिब्बल भले ही यह जिद पाले रहे कि यह नुकसान सिर्फ काल्पनिक एवं अनुमानित (नोशनल) है। पड़ताल में यह बात सामने आई कि तत्कालीन प्रधानमंत्री इस प्रकरण से अनभिज्ञ नहीं थे बल्कि उनकी मजबूरी यह थी कि कांग्रेस केन्द्र में अल्पमत में थी और यूपीए की सरकार सहयोगी दलों के समर्थन की बैसाखी पर ही टिकी हुई थी। इस समर्थन को बनाए रखने के लिए मनमोहन सिंह ने डी.एम.के के मंत्रियों को न केवल मुंह मांगे मंत्रालय सौंपे थे बल्कि उन्हें अपने मंत्रालयों का काम-काज मनमाने ढंग से करने की खुली छूट भी दे दी थी।

प्रधानमंत्री सचिवालय में काम करने वाले अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को उन्होंने यह हिदायत दे दी थी कि मुझे टेलिकॉम निलामी वाले मामले से बांह भर के फासले पर रखा जाए। दूसरे शब्दों में उन्हें इस बात की जानकारी थी कि बहुत कुछ गलत हो रहा है पर वे इसके लिए जिम्मेदार नहीं बनना चाहते थे। इस बात से कोई भी इंकार नहीं कर सकता कि यदि टेलिकॉम स्पैक्ट्रम की ठीक से निलामी की जाती तो केन्द्र सरकार को इससे होने वाला राजस्व लाभ कई गुणा अधिक होता पर इसके साथ ही जुड़ा दूसरा पहलू यह है कि तब ग्राहक को अपने टेलीफोन कॉलों के लिए कहीं अधिक कीमत भी चुकानी पड़ती क्योंकि, आखिरकार नीलामी में चुकाई रकम की वसूली ग्राहक से ही होती थी। इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि आर्थिक विकास को तेज़ रफ्तार देने में मोबाइल फोनों का बड़ा योगदान रहा है। घुमा-फिरा कर बात फिर से वही पहुंचती है कि क्या कार्य कुशलता बढ़ाने और आर्थिक विकास के लिए भ्रष्टाचार से समझौता जरूरी है?

और भी बहुत सारे उदाहरण गिनाए जा सकते हैं, इनमें से कुछ का जिक्र निम्न साहब ने नहीं किया है जिससे लगता है कि कुछ ऐसे सर्वशक्तिमान भारतीय पूंजीपती एवं उद्यमी हैं जिनकी ओर इशारे में भी अंगुली उठाना अधिकांश विद्वान और पत्रकार आत्मघातक संकट समझते हैं। मुकेश अंबानी के रिलायंस समूह को कावेरी गोदावरी बेसिन में गैस की खोज और उसके उपयोग के लिए दिए गए लाइसेन्स ने भी एक बहुत बड़े विवाद को जन्म दिया है पर इसकी चर्चा करने का साहस किसी समाचारपत्र या मीडिया चैनल में नहीं दिखलाया है। परांजय गुहा ठाकुरता ने जब इस मामले की पड़ताल विस्तार से अपनी किताब 'दि गैस वॉर्स' में किया तो पहले से तय प्रकाशन ने उसे छापने से इंकार कर दिया। जब लेखक किसी दूसरे प्रकाशक के पास गया तो वहां भी उसे ना ही सुनने को मिला। लगातार कई प्रकाशकों से इंकार सुनने के बाद ठाकुरता को यह महसूस होने लगा कि प्रकाशक इसलिए इंकार कर रहे थे क्योंकि, उनके ऊपर इस औद्योगिक घराने का बड़ा दबाव था।

पुस्तक के अगले भागों में उभरती वास्तविक चुनौतियों का विश्लेषण किया गया है। यहां लेखक ने यह विचार प्रकट किया है कि ऐसा जान पड़ता है कि भविष्य में देश की राजनीति क्रमशः कम समन्वयात्मक और कम समावेशी बन सकती है। राजसत्ता का स्वरूप भी क्रमशः कम जनतांत्रिक ही रह सकता है। यहां लेखक ने एक बहुत पैनी टिप्पणी की है कि भारतीय मध्यवर्ग में निरंतर बढ़ोत्तरी को इस बात का प्रमाण माना जाता है कि भारत का आर्थिक विकास निरंतर और अबाध हो रहा है। पर यह सोचने का कष्ट कम लोग उठाते हैं कि मध्यवर्ग की पैमाइश किस पैमाने से की जा रही है। जिस तरह भारत में गरीबी को नापने वाले पैमाने को लेकर एक गरमा-गरम बहस अरसे से चल रही

है वैसा ही यहां भी देखने को मिलता है। जो कसौटी अपनाई जाती है वह अमेरिकी डॉलर के मानक मान पर्चेज़ पावर पैरटी वाली है। बिना अनावश्यक जटिलता से उलझे यह स्वीकार किया जाने लगा है कि यदि कोई पांच सदस्यों वाला भारतीय परिवार प्रतिमाह 18 से 20 हजार रुपया खर्च करने की सामर्थ रखता है तो उसे मध्यवर्गीय माना जा सकता है। यह आंकड़ा कोई चार-पांच वर्ष पहले अपनाया गया था। आज के बाजार भाव को देखते हुए यह राशि करीब 25 हजार रुपया प्रतिमाह होगी जो प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय से कहीं ऊपर है। अक्सर यह भी कहा जाता है कि भारत की आबादी का एक तिहाई हिस्सा गरीबी की सीमा रेखा से नीचे रहता है और एक तिहाई हिस्सा मध्यवर्गीय है। यहां आंकड़ों से खिलवाड़ साफ नज़र आता है। गरीबी की सीमा रेखा से नीचे रहने वाले लगभग ढाई हजार रुपया प्रतिमाह ही खर्च रखने की सामर्थ्य अर्थात् आज के भारत में न केवल बेशुमार अमीर और मध्यवर्गीय नागरिकों के बीच बहुत बड़ी खाई है बल्कि मध्यवर्गीय नागरिकों और गरीबों के बीच की खाई भी बहुत गहरी है। इस बात का अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है कि जब तक यह सामाजिक विषमता बरकरार रहती है तब तक आर्थिक विकास को निरापद नहीं समझा जा सकता और न ही हम उस राजनीतिक स्थिरता और सुख-शांति की कल्पना कर सकते हैं जिसके बिना आर्थिक प्रगति असंभव है। कछुआ कितनी भी धीमी रफ्तार से चले वह निरंतर आगे बढ़ता है पर अगर वह रुका ही रहे तो मंजिल तक का सफर कैसे पूरा कर सकता है? किताब के शीर्षक से यह संदेश साफ है कि अभी भारत नामक कछुए ने सिर्फ करवटें बदली है चलना शुरू करना अभी बाकी है। यह सवाल हम सभी को अपने आप से पूछना होगा कि हम कब तक प्रतिक्षा करते रहेंगे? □



प्रो. पुष्पेश पंत

आज से कई सौ साल पहले जर्मन रणनीति विशेषज्ञ क्लॉस क्लोबिज ने एक सूत्र वाक्य में अपने सारे सामरिक दर्शन को 'गागर में सागर' की तरह भरने का प्रयास किया। यह वाक्य था 'वॉर इज कन्टीन्यूएशन ऑफ पॉलिसी थू अदर मीन्स' अर्थात युद्ध का मतलब है राज्य की नीतियों को किसी दूसरे माध्यम से (सैनिक प्रयोग द्वारा) जारी रखना। अगर इसकी और विस्तृत व्याख्या की जाए तो हमें यही समझ में आएगा कि किसी राष्ट्र-राज्य के पास अपने हित-साधन के लिए जो अनेक उपकरण होते हैं उनमें युद्ध या सैन्य-शक्ति सिर्फ एक है। 20 वीं सदी में दो-दो सर्वनाशक महायुद्ध लड़े गए और शीतयुद्ध के दौर में विभिन्न महाद्वीपों में बरसों जारी रहे। रक्तरीजित संघर्ष में (चाहे वह नस्लवादी गृहयुद्ध हो या मुक्ति संग्राम अथवा क्रांतिकारी उथल-पुथल) लाखों लोग हताहत हुए। इसी कारण नीतियों को युद्ध के माध्यम से लागू करने वाला विकल्प आज 21 वीं सदी में किसी को भी आकर्षक नहीं लगता बल्कि यह सुझाना तर्क संगत है कि इसे आखिरी विकल्प माना जाता है। एटमी हथियारों के आविर्भाव के बाद यह जोखिम चिंताजनक है कि कोई भी सैनिक मुठभेड़ भड़का कर विश्व को सर्वनाशक परमाणुविक युद्ध की कगार तक पहुंचा सकता है। अनेक विद्वान इस निष्कर्ष पर

वॉर बाय अदर मीन्स जियो इकोनॉमिक्स एण्ड स्टेटक्राफ्ट, ए सेक्रेड जियोग्राफी

लेखक: रॉबर्ट डी ब्लैकविल और जैनिफर एम. हैरिस

पहुंचे हैं कि आज क्लॉस क्लोबिज को शीर्षासन कराने की जरूरत है अर्थात यदि किन्हीं दो या इससे अधिक शक्तियों के बीच राष्ट्रीय हितों का बुनियादी टकराव टाला नहीं जा सकता तो युद्ध को सैन्य बल से नहीं किसी दूसरे माध्यम से लड़ा जाना चाहिए। प्रस्तुत पुस्तक इसी विचार को जोरदार तर्क के साथ पाठकों तक पहुंचाने का प्रयास करती है।

पुस्तक का उपशीर्षक 'जियो इकोनॉमिक्स एण्ड स्टेटक्राफ्ट' है। स्टेट-क्राफ्ट शब्द काफी समय से प्रचलित में है और इसे दूरदर्शी बहुजन हिताय राजनय का पर्याय समझा जाता है। परन्तु 'भू-अर्थशास्त्री' हाल ही के कुछ वर्षों में गढ़ा गया अमेरिकी शब्द है जिसका प्रचलन धीरे-धीरे ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों के बीच बढ़ रहा है। इसके पहले जिस शब्द का प्रयोग लगभग इसी विषय के लिए किया जाता था वह जियो पॉलिटिक्स अर्थात भू-राजनीति था। अगर आज विशेषज्ञ भू-राजनीति के बदले भू-अर्थशास्त्र के आधार पर राजनय का संचालन करना चाहते हैं तो इसके दो प्रमुख कारण हैं- पहली बात तो यह है कि उन्हें लगता है कि भू-राजनीति 19 वीं सदी की लगभग पौराणिक अवधारणा है जिसकी कोई उपयोगिता 21 वीं सदी के पूर्वाद्ध में नहीं रही। दूसरी बात जो बड़े हद तक तर्क संगत है यह है कि भू-राजनीति का घनिष्ठ नाता सैनिक बल प्रयोग की संभावनाओं के साथ जुड़ा रहा है और इसीलिए यदि हम इस घड़ी

सैनिक मुठभेड़ या युद्ध वाले विकल्प को खारिज कर रहे हों तब फिर भू-राजनीति का अवमूल्यन खुद-ब-खुद हो जाता है। इसके अलावा जब से भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण की प्रक्रिया तेज हुई है तब से अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों के आर्थिक पक्ष को प्राथमिकता दी जाने लगी है। यूं यह बात औपनिवेशिक साम्राज्यवाद के युग में ही स्पष्ट हो चुकी थी कि सैन्य शक्ति का उपयोग किसी अमूर्त लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि बहुमूल्य समझे जाने वाले आर्थिक संसाधनों पर कब्जा करने के लिए, उन पर एकाधिकार बनाए रखने के लिए और इनकी रक्षा के लिए ही किया जाता है। शीत युद्ध के दौर में भी जब तनाव शैथिल्य का सूत्रपात हुआ तब यह बात रेखांकित की गई कि परस्पर सहकार दोनों ही खेमों के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। पर इसका अर्थ यह नहीं निकाला जा सकता कि भू-राजनीति का कोई संबंध अर्थशास्त्र से नहीं है।

19 वीं सदी में मैकेन्डर और महान जैसे लोगों ने जो स्थापनाएं की उनके अनुसार किसी भी देश या राज्य का भू-राजनैतिक महत्व तीन-चार बातों से तय होता है। विश्व के मानचित्र पर वह कहां स्थित है? उसका आकार क्या है? और, वह प्राकृतिक संसाधनों से संपन्न है या नहीं? इसके साथ-साथ आबादी का आकार और उसका स्वरूप भी कम महत्वपूर्ण नहीं। जाहिर है कि आज भी दुनिया में अनेक ऐसे राष्ट्र-राज्य हैं जो नाममात्र को संप्रभु हैं और भले ही बहुमूल्य खनिज संपदा

या दूसरे प्राकृतिक संसाधनों के स्वामी है पर समुचित टेक्नोलॉजी के अभाव अथवा भ्रष्ट नेतृत्व के कारण राष्ट्रहित में इनका उपयोग करने में असमर्थ है। कुछ अभागे देशों की भू-राजनैतिक स्थिति ऐसी है कि उनको कोई भी महाशक्ति या प्रमुख क्षेत्रीय शक्ति आत्मनिर्भर और स्वाधीन नहीं बनने दे सकती। कुछ अन्य देश ऐतिहासिक कारणों से न तो भू-राजनीति को अपने हित में धुना सके हैं और न हीं आज भू-अर्थव्यवस्था का पूरा फायदा उठा सकते हैं। इस भूमिका के बिना प्रस्तुत पुस्तक की ठीक से समीक्षा नहीं की जा सकती।

लेखकों की जोड़ी का प्रयास यह है कि भू-राजनीति को वह विश्वभर के लिए एक राजनयिक मानक के रूप में पेश करें। पर कुल मिलाकर यह किताब अमेरिका के राष्ट्रहित के संदर्भ में ही लिखी गई है और इसके विश्लेषण को भी अमेरिका के प्रतिद्वंद्वी रूस और चीन को ध्यान में रखकर ही किया गया है। बीच-बीच में भारत, जापान, कोरिया अथवा मध्यपूर्व के तेल उत्पादक तथा निर्यात देशों का उल्लेख तो होता है पर यह सिर्फ एक रास्ता दूर करने वाले विषयांतर के रूप में ही हुआ है। बहुत-से-बहुत यह सुझाया गया है कि आक्रामक चीन को संतुलित करने के लिए भारत के साथ करीबी सामरिक रिश्ते आवश्यक हैं या यह कि पुतिन को मुंहतोड़ जबाब देने के लिए पूर्वी यूरोप के देशों की बेहिचक मदद जरूरी है। चूंकि यह पुस्तक अमेरिका के एक मशहूर थिंक टैंक 'काउन्सिल ऑफ फॉरेन रिलेशन्स' के लिए लिखी गई है जहां दोनों लेखक वरिष्ठ पदों पर काम कर रहे हैं इसलिए यह पूर्वाग्रह स्वाभाविक है। शायद यह जोड़ने की जरूरत है कि रॉबर्ट डी ब्लैकविल कुछ बरस पहले भारत में अमेरिका के राजदूत के रूप में काम कर चुके हैं उनके कार्यकाल को कामयाब माना जाता रहा है।

इन पंक्तियों के लेखक के लिए असंतोष का सबसे बड़ा विषय यह नहीं कि भू-अर्थशास्त्र के संदर्भ में भारत को अहमियत नहीं दी गई है बल्कि हमारी

परेशानी इस बात को लेकर है कि लेखक भू-अर्थशास्त्र और आर्थिक विदेशनीति या आर्थिक राजनय में स्पष्ट फर्क समझने में असमर्थ रहे हैं। विशेषज्ञों के बीच आपस में बरती जाने वाली गूढ़ भाषा- जार्गन-का ही एक और उदाहरण यह शब्द लगता है। घुमाफिरा कर भू-राजनीति के आर्थिक पक्ष को ही एक नया नाम दिया गया है। यह प्रवृत्ति अमेरिकी समाजशास्त्रियों में आमतौर पर देखने को मिलती है कि वह बाल की खाल निकालते हुए अपने विश्लेषण को 'वैज्ञानिक' जामा पहनाते हैं, कई मॉडल गढ़ते हैं जिसके आधार पर विदेशनीति या राजनय के लिए नया परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। यह बात भी किसी से छिपी नहीं कि बड़े-बड़े थिंक टैंकों में काम करने वाले पूर्व राजदूत या विदेश मंत्री आदि जो पुस्तके लिखते हैं वह इक्का-दुक्का अपवादों को छोड़ किसी गंभीर शोध से प्राप्त मौलिक निष्कर्ष हमारे सामने नहीं रखती बल्कि व्यक्तिगत अनुभव के दोहराव पर ही आधारित होती है। इनका बहुत बड़ा हिस्सा हाल में प्रकाशित दूसरी पुस्तकों या लेखों का उपयोग करता है और इनको पढ़कर ऐसा लगता है कि यह सब तो पहले ही पढ़ा-सुना है। अब सवाल यह उठता है कि फिर ऐसी पुस्तके क्यों प्रकाशित होती हैं और बेस्ट सेलर भी (बहुत बिकने वाली) बन जाती है? इसका सीधा उत्तर यह है कि यह भी 'दूसरे माध्यम से युद्ध' का ही उदाहरण है। अमेरिका के विद्वानों का यह प्रयास रहता है कि उनके विचारों का प्रसार सर्वत्र हो और खासकर तीसरी दुनिया के भारत जैसे विकासशील देशों में जहां इन पुस्तकों के पाठक यह समझते हैं कि यह सोच अमेरिकी प्रशासन की नीतियों को प्रभावित करता है और फिर नतीजतन अपनी नीतियों का निर्धारण इसके आधार पर करते हैं। यह पुस्तक भी इसी श्रृंखला की एक कड़ी है।

पुस्तक में कुल दस अध्याय हैं जिनमें आभार और छोटे सी भूमिका के बाद पहले अध्याय में जियो इकोनॉमिक्स को

परिभाषित करने की कोशिश की गई है। दूसरे अध्याय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और जियो इकोनॉमिक्स के संबंध की पड़ताल की गई है। इसके बाद वाला अध्याय जियो इकोनॉमिक्स के प्रमुख उपकरणों की सूची पेश करता है। कुल मिलाकर यह तीन छोटे-छोटे अध्याय एक ही अध्याय के तीन हिस्से समझकर पढ़े जाने चाहिए। जैसा पहले कहा जा चुका है- लेखकों की जोड़ी आर्थिक राजनय, आर्थिक विदेशनीति और भू-राजनीति के आर्थिक आयाम को केन्द्र में रख संपादित आर्थिक राजनय को भू-अर्थशास्त्र से अलग विषय दर्शाने में असफल ही रहे हैं।

चौथा और पांचवा अध्याय चीन की विदेशनीति में जियो इकोनॉमिक्स का अध्ययन-विश्लेषण करता है और पहले वाले अध्यायों की तुलना में अधिक रोचक और उपयोगी है। जिस बात की ओर लेखकों ने हमारा ध्यान दिलाया है और जो वास्तव में याद रखने लायक है वह यह है कि चीन और अमेरिका दो बिल्कुल फर्क राजनैतिक प्रणालियों और अर्थव्यवस्थाएं हैं। अगर अमेरिका चाहे भी तो चीन की तरह अपने भू-आर्थिक संसाधनों या उपकरणों का प्रयोग नहीं कर सकता। आर्थिक सुधारों के बाद भले ही चीन यह दावा करता रहा है कि उसके यहां एक राज्य और दो प्रणालियां हैं और अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में उसकी भागीदारी इसी कारण (विशेष आर्थिक क्षेत्रों के जरिए) बढ़ी है इस बात को अनदेखा नहीं किया जा सकता कि चीन में तमाम आर्थिक क्रियाकलाप राज्य के कड़े नियंत्रण में होते हैं। यदि चीन किसी देश के खिलाफ आर्थिक युद्ध छेड़ना चाहता है तो वह राज्य के समस्त साधन इस मोर्चे पर झोंक सकता है। जिन कंपनियों का स्वामित्व राज्य का है वह अपने हितों की बात कर ही नहीं सकते। इसके विपरीत पूंजीवादी अमेरिका में जहां जनतंत्र सक्रिय है और जीवनशैली का अभिन्न अंग प्रशासक लाख चाहने पर भी ऐसा नहीं कर सकता। अगर वह किसी राज्य को शत्रु घोषित

कर भी दे तो उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध या निषेध लगाना सहज नहीं। जिन अमेरिकी उद्योगपतियों या उद्यमियों के हित को इन प्रतिबंधों या निषेधों से नुकसान पहुंचता है वह इनका विरोध करते हैं और इनको हटाए जाने की मांग करते हुए असरदार राजनीतिक दबाव बना सकते हैं।

लेखकों ने एक और दिलचस्प टिप्पणी की है कि भले ही चीन अपनी सैनिक शक्ति के प्रदर्शन से हिचकिचाता नहीं और मांसपेशियां फुलाता रहता है चाहे साउथ चाइना सी हो या दक्षिण पूर्व एशिया वह अपने राष्ट्रहितों की हिफाजत के लिए आर्थिक उपकरणों का ही प्रयोग बेहतर समझता है। दूसरे शब्दों में जहां-जहां उसे चीन के सामरिक हित संवेदनशील लगते हैं वह बाजार के तर्क के अनुसार लाभ-लागत को अनदेखा करने को तैयार रहता है और नफा-नुकसान की परवाह किए बिना आर्थिक संसाधनों का सामरिक उपयोग करता है। यह बात उसके दक्षिण एशिया और अफ्रीका महाद्वीप के देशों के साथ संबंधों में बरसों से देखने को मिल रही है। लेखकों का मानना है कि इस रणनीति को अपना कर चीन ने अमेरिका को अपने हितों की रक्षा के लिए बचाव की मुद्रा में खड़ा होने के लिए मजबूर कर दिया है।

चीन की अर्थव्यवस्था आज दुनिया की दूसरी सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है और इसमें अचरज की बात नहीं कि वह अपनी आर्थिक क्षमता का पूरा लाभ उठाने की कोशिश कर रहा है। असली सवाल यह है कि फिर क्यों अमेरिका भू-अर्थव्यवस्था या आर्थिक राजनय के क्षेत्र में पिछड़ा है? अमेरिकी अर्थव्यवस्था न केवल दुनिया की सबसे बड़ी अर्थव्यवस्था है बल्कि टेक्नोलॉजी के मामले में वह दुनिया के किसी भी दूसरे देश से आगे है। लेखकों की राय में इसका सबसे बड़ा कारण 21 वीं सदी के आरंभ में ही 9/11 वाला दहशतगर्द हमला है जिसके बाद अमेरिका के लिए राष्ट्रहित का सैनिक और सामरिक पक्ष सबसे अधिक महत्वपूर्ण बन गया। होमलैण्ड की रक्षा को तत्कालीन राष्ट्रपति

बुश ने सामरिक संवेदनशीलता की सूची में सबसे बड़ी प्राथमिकता दी और इस कारण राजनय का आर्थिक आयाम हाशिए पर चला गया। बाद के वर्षों में ईराक, अफगानिस्तान, सीरिया, लीबिया और मिस्र में गृहयुद्ध के विकराल रूप लेने के कारण इन देशों में अमेरिकी सैनिक हस्तक्षेप निरंतर बढ़ता गया। राष्ट्रपति ओबामा ने यह जिम्मेदारी स्वीकार की थी कि आंतकवाद के विरुद्ध अमेरिका की जंग जारी रहेगी और अलकायदा के सरगना ओसामा बिन लादेन का खात्मा किए बिना वह चुप नहीं बैठेंगे। लगातार 15 वर्षों से अमेरिकी प्रशासन- चाहे कोई भी राष्ट्रपति हो- राजनय के सामरिक सैनिक पक्ष को इसी कारण अनदेखा करना असमर्थ रहा है। तब भी लेखकों का मानना है कि देर से ही सही अब अमेरिका को अपनी आर्थिक मांसपेशियों को फुलाना ही नहीं उनका इस्तेमाल करना शुरू कर देना चाहिए।

चीन के बाद वाले 6 से लेकर 9 अध्याय तक अमेरिकी विदेशनीति के संदर्भ में भू-अर्थशास्त्र का अध्ययन विश्लेषण किया गया है। इनमें से पहले अर्थात् 6 अध्याय में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का पुनरीक्षण किया गया है और 7 वें अध्याय में अमेरिका की भू-आर्थिक क्षमता की पड़ताल की गई है। 8 वां अध्याय भू-अर्थशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में उत्तर अमेरिकी महाद्वीप में ऊर्जा क्रांति पर केन्द्रित है। 9 वां अध्याय आर्थिक शक्ति के युग में अमेरिका की विदेशनीति को परखने का प्रयास करता है। अंतिम दसवां अध्याय अमेरिका की व्यापक रणनीति (ग्रेण्ड स्ट्रैटजी) और अमेरिकी राष्ट्रहितों को एकसाथ देखने की कोशिश है।

यहां फिर एक बार यह बात दोहराने की जरूरत है कि कई जगह ऐसा लगता है कि छोटी सी बात को चाहे वह महत्वपूर्ण ही क्यों ना हो बहुत फैलाकर तूल देने की कोशिश की जा रही है। मसलन 9 वें अध्याय में अनेक सबक दर्ज हैं जिनकी कुल गिनती 18 तक पहुंचती है। लेखकों की राय में आर्थिक शक्ति के इस युग

में अमेरिकी विदेश नीति का संचालन इनके मध्य नजर ही होना चाहिए। यह सारे सबक सामान्य ज्ञान (कॉमन सेन्स) से गढ़े मुहावरों से अधिक कुछ नहीं। पहला सबक है 'राष्ट्रीय शक्ति इस बात पर निर्भर करती है कि किसी देश की अर्थव्यवस्था किस तरह काम कर रही है और उपलब्ध संसाधनों को किस तरह नियोजित करती है।' दूसरे सबक भी इसी तरह के सूत्र वाक्य हैं जिनसे असहमत होना कठिन है- 'अमेरिका के लिए सबसे कठिन भू-राजनैतिक चुनौतियां वहां पैदा होती है जहां दूसरे राज्य भू-आर्थिक उपकरणों को पहले विकल्प के रूप में चुनती है।' यहां यह कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि लेखक झकमर कर भू-राजनीति और भू-अर्थशास्त्र का अटूट संबंध स्वीकार करने को मजबूर नजर आते हैं। 19 वें और 20 वें सबक तो और भी बचकाने लगते हैं- 'कांग्रेस के साथ काम-काज निपटाने के नये नियम अपनाते होंगे।' 'विश्वविद्यालयों में सभी जगह भू-अर्थशास्त्र पढ़ाया जाना चाहिए।'

10 वें अध्याय में जहां अमेरिका की व्यापक रणनीति और राष्ट्रहितों की बात की गई है वहां भी 6-7 पन्नों में अतिसरलीकृत वेद वाक्यों में तमाम जटिल सवाल निपटा दिए गए हैं। यह बात समझने के लिए कोई खास विशेषज्ञता दरकार नहीं कि अमेरिका हो या कोई दूसरा देश उसके कुछ अति संवेदनशील मार्मिक राष्ट्रहित होते हैं जिन्हें यह लेखक दूसरे विद्वानों की तरह वाइटल नेशनल इन्टेस्ट का नाम देते हैं। इसके बाद ही अत्यंत महत्वपूर्ण (इक्स्ट्रीमली इम्पोर्टेंट) नेशनल इन्टेस्ट की गिनती होती है। पहली श्रेणी में जो राष्ट्रहित हैं वह हैं अमेरिका को महाविनाशकारी हथियारों के आक्रमण से या उसे पंगु बना सकने वाले साइबर अटैक से सुरक्षित रखना। इसी के साथ जुड़ा हित वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन को बरकरार रखना है। दूसरी श्रेणी के राष्ट्रहितों में महाविनाशकारी हथियारों के क्षेत्रीय प्रसार को रोकना और अमेरिका

पुस्तक समीक्षा

के मित्र देशों, संधियों के सदस्यों को साइबर हमलों से बचाना तथा विश्वभर में जनतंत्र की जड़ों को मजबूत करना है।

विडंबना यह है कि इन हितों की रक्षा के लिए अमेरिका ने जो रणनीति अपनाई है उसने इन हितों की रक्षा के बजाए इन्हें नुकसान ही पहुंचाया है। वह कट्टरपंथी इस्लामी दहशतगर्दी का संक्रामक लाइलाज रोग की तरह दुनिया भर में प्रसार हो या चीन तथा रूस द्वारा अमेरिका या उसके मित्र राष्ट्र के विरुद्ध साइबर हमलों का प्रयोग। कड़वा सच तो यह है कि आज न केवल भारत को बल्कि यूरोप के फ्रांस और जर्मनी जैसे अमेरिका के संधि मित्रों को भी यह भरोसा नहीं रह गया कि अमेरिका उनके खिलाफ साइबर उपकरणों या हथियारों का प्रयोग नहीं कर रहा है। विकीलीक्स के बाद इस बात का खुलासा हो चुका है कि अपने को जनतांत्रिक और सवैधानिक कहने वाला अमेरिका अपने मार्मिक हितों की रक्षा के लिए अपने मित्रों के हितों की बलि आसानी से दे सकता है।

अमेरिकी विदेशनीति और राजनय के संचालन में दोहरे मानदण्डों का पाखण्ड हमेशा जारी रहा है। अमेरिका जब यह कहता है कि वह किसी देश में जनतंत्र की जड़ें मजबूत करने के लिए या मानवाधिकारों का संरक्षण करने के लिए सैनिक हस्तक्षेप कर रहा है तो इसका अर्थ जबरन सत्ता परिवर्तन कर अपनी पसंद की सरकार या शासक थोपना होता है। इसकी प्रतिक्रिया में जो राजनैतिक अस्थिरता जन्म लेती है या आक्रोश का जो भयंकर विस्फोट होता है उसका निराकरण आर्थिक राजनय से या भू-अर्थशास्त्र के उपदेश से कतई नहीं हो सकता।

लेखकों ने बहुत ही संक्षेप में लगभग नाममात्र के लिए उल्लेख कर रूस और पुतिन की चुनौती का जिक्र इस पुस्तक में किया है। लेखक इस बात को स्वीकार करते हैं कि अमेरिका अपनी विदेशनीति के संदर्भ में भू-अर्थशास्त्र का उपयोग शायद इसलिए भी नहीं कर पाया है क्योंकि रूस में पिछले 15 सालों से

पुतिन का ही बोल-बाला रहा है जिन्होंने भू-आर्थिक और भू-राजनैतिक हथियारों का इस्तेमाल एकसाथ किया है। उन्होंने ऊर्जा संसाधनों का प्रयोग न केवल पूर्वी यूरोप के देशों बल्कि पश्चिमी यूरोप के देशों को भी धमकाने-ललचाने के लिए किया है और चीन के साथ-साथ जापान को भी अपनी ओर आकर्षित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। इस पुस्तक के लेखक यह नुस्खा तो सुझाते हैं कि अमेरिका को अपने भू-आर्थिक संसाधनों का उपयोग इस काम के लिए करना चाहिए ताकि वह पूर्वी यूरोप के साथ-साथ मध्य एशिया के कभी सोवियत साम्राज्य का हिस्सा रहे कजाकिस्तान, अजरबेजान और उज्बेकिस्तान जैसे देशों को अपने पक्ष में कर सके। पर यह काम कहने में आसान है पर करने में बहुत कठिन। इस बात का कोई भरोसा नहीं कि यदि अमेरिका रियायती मोल पर इन देशों को ऊर्जा सुलभ कराता भी है तो वह उसके तरफदार बनेंगे। स्वयं रूस के बारे में ऐसी आशावादित निराधार साबित हुई है। इस बात को भी अमेरिका अनदेखा नहीं कर सकता कि यूक्रेन में रूस ने न केवल आर्थिक भयादोहन किया बल्कि सैनिक बल प्रयोग में भी कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। अमेरिका के लिए यह आशंका हमेशा सरदर पैदा करती रहेगी कि पुतिन किस मोर्चे को प्राथमिकता देंगे और अमेरिका को असंतुलित करने के लिए किस हथियार को इस्तेमाल करेंगे। अमेरिका के प्रतिद्वंद्वी भी आसानी से यह तय नहीं कर सकते कि भू-अर्थशास्त्र की बात को इतनी गंभीरता से लिया जा सकता है। क्या यह सारा ताम-झाम इसलिए तो नहीं खड़ा किया जा रहा कि इस पर्दे के पीछे अमेरिका अपनी सैनिक गतिविधियां अप्रत्यक्ष रूप से जारी रख सकें।

इस पुस्तक को पढ़ते वक्त यह बात बार-बार याद आती रहती है कि अमेरिका के 20 वीं सदी के भू-राजनैतिक - सामरिक सैनिक अनुभव के आलोक में ही तमाम स्थापनाएं की जा रही है

जो तर्क संगत नहीं। पहले और दूसरे विश्वयुद्ध में अमेरिका की विजय सिर्फ वुडरो विल्सन और रूजवेल्ट की दूरदर्शी नीति के कारण नहीं मिली थी। इसके लिए दूसरे बहुत सारे कारण जिम्मेदार हैं जिनमें रूस का योगदान और एटमी हथियार के आविष्कार के बाद जापान का समर्पण निर्णायक समझे जाने चाहिए। चूंकि इतिहास जीतने वाला लिखता है इसलिए मित्र राष्ट्र आज सारी सफलता का श्रेय ले सकते हैं। अगर मध्यपूर्व में इजरायली-फिलिस्तीनी संघर्ष की बात करे या दक्षिण पूर्व एशिया में वियतनामी मुक्ति संग्राम की तो इस बात को नकार नहीं सकते कि अमेरिका को दोनों जगह मुंह की ही खानी पड़ी है। सैनिक सामरिक क्षेत्र में भी अमेरिका अपनी सत्ता के मद के अहंकार के कारण नाकाम होता रहा है।

ऐसा भी नहीं कि अमेरिका ने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने के लिए आर्थिक साधनों का प्रयोग या दुरुपयोग लैटिन अमेरिका, यूरोप या एशिया में नहीं किया है। कोकाकोला साम्राज्यवाद, मैकडोनाल्डीकरण के कारण भूमंडलीकरण को वास्तव में विश्वव्यापी बनने में अड़चन आती रही है। यूरोपीय समुदाय के कुछ साथी भी यह सोचते हैं कि कनाडा और मैक्सिको की तरह वह भी अमेरिकी बरगद की छाया के कारण फल-फूल नहीं सके हैं। बहरहाल इस पुस्तक का सबसे उपयोगी हिस्सा हमारी समझ में उन टिप्पणियों वाला है जो 10 वें अध्याय के अंत में परिशिष्ट की तरह जोड़ा गया है। इनमें बहुत सारे लेखों और पुस्तकों के उद्धरण और संदर्भ दिए गए हैं जिन पर नजर डालकर पाठक उन बहुत सारी भूली-बिसरी बातों की याद ताजा कर सकते हैं जो सम-सामयिक राजनीति की पेचिदा बारीकियां समझने में सहायक हो सकते हैं। पर यहां भी सतर्कता बतारने की जरूरत है क्योंकि लेखकों ने अधिकतर उन्हीं स्रोतों और सामग्री का उल्लेख किया है जो उसी दक्षिणपंथी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है।



मणिकांत सिंह

पिछले दो-तीन वर्षों से अपने देश में धर्म-निरपेक्षता बनाम हिन्दुत्व वाली बहस गरम होती रही है। इसी कारण डायना एक की इस पुस्तक का शीर्षक कुछ नाजायज गलतफहमी पैदा कर सकता है। इंडिया: 'ए सेक्रेड जियोग्राफी' का सीधा-साधा अनुवाद है 'भारत: एक पवित्र, भूगोल' और यह भी सच है कि विद्वान लेखिका ने भारत का अध्ययन करने के लिए तीर्थों और तीर्थ यात्राओं को ही अपना प्रमुख स्रोत बनाया है परन्तु जो सामग्री उन्होंने इस पुस्तक में पाठकों को सुलभ कराई है वह न केवल तुलनात्मक धर्मशास्त्र और समाजशास्त्र के विशेषज्ञ शोधकर्ताओं के लिए उपयोगी है वरन् सम-सामयिक राजनीति और पर्यावरण के संरक्षण में दिलचस्पी रखने वाले हर जागरूक भारतीय नागरिक तथा विदेशी अध्येताओं के लिए भी बहुमूल्य साबित होगी। जहां तक प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी कर रहे छात्रों का प्रश्न है यह बात बेहिचक कही जा सकती है कि सामान्य ज्ञान के अनेक पक्षों (कला, संस्कृति, भारतीय भूगोल, पर्यावरण का संकट, धर्म की सामाजिक उपयोगिता, भारतीय कला, लोक संस्कृति, भारतीय इतिहास के विवादास्पद प्रश्न, आधुनिकीकरण जनित बदलाव आदि) को समझने का बेहद मददगार साधन बन सकती है। पुस्तक पहली बार 2012 में

'इंडिया'

ए सेक्रेड जियोग्राफी

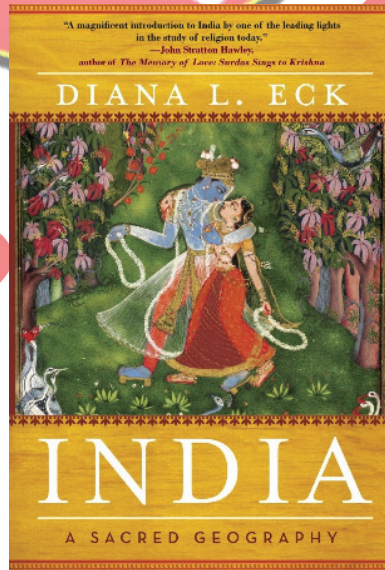
लेखिका: डायना एल. एक

प्रकाशित हुई पर भारत पहुंचने में इसे कुछ देर लगी। प्राचीन भारतीय इतिहास के विद्वान भले ही इससे परिचित रहे हों हमारे देश का आम पाठक वैडी डोनिनजर की हिन्दूज् और हिन्दुइज्म जैसी सनसनीखेज सतही किताबों पर प्रतिबंध लगाने की मांग करने वाले उग्र राष्ट्रवादी आन्दोलन में ही नाहक उलझे रहे हैं।

लेखिका अमेरिका के मशहूर हार्वर्ड विश्वविद्यालय में बरसों से पढ़ाती रही है और इसके पहले 'बनारस: सिटी ऑफ लाइट' नामक उनकी रचना क्लासिक समझी जाती है। डायना एक पर यह आरोप नहीं लगाया जा सकता कि उनके सरोकार किसी राजनीतिक दल की पक्षधरता से जुड़े हैं या वे धर्मनिरपेक्षता वाली बहस में किसी एक

धड़े, पुनरुत्थानवादियों या प्रगतिशीलों, के तर्कों को पुष्ट करना चाहती हैं। भारत के प्रति उनका प्रेम असंदिग्ध है पर अध्ययन और विश्लेषण का उनका तरीका समाज विज्ञानी अनुशासन को ही सर्वोपरि मानता है जहां उन्होंने रोमिला थापर, रामशरण शर्मा जैसे मार्क्सवादी रुझान के धर्मनिरपेक्ष उदार इतिहासकारों के शोध का भरपूर लाभ उठाया है वहीं उन्होंने अपने तथा दूसरे विदेशी शोधकर्ताओं के नवीनतम प्रकाशनों का भी संतुलित उपयोग किया है—उन सभी का जो भारतीय राजनीति की उठा-पटक में तटस्थ हैं। यहीं कारण है कि यह पुस्तक बेहद पठनीय बन गई है।

लेखिका हमारा ध्यान इस ओर दिलाती है कि भारत की भूमि को पवित्र बताने वाले विद्वानों की परंपरा काफी पुरानी है। आधुनिक युग में इस सिलसिले में वह विवेकानंद का जिक्र करती हैं जिन्होंने 1893 में शिकागो की अन्तर्राष्ट्रीय धर्म संसद में भारतमाता की वन्दना करते वक्त आध्यात्म और देश प्रेम का संगम कराया था। वास्तव में विवेकानंद बंगाली उपन्यासकार बंकिम चट्टोपाध्याय का अनुसरण कर रहे थे जिन्होंने 1857 के स्वाधीनता संग्राम के विस्फोट के बाद आनन्दमठ नामक उपन्यास में 'वन्देमातरम्' शीर्षक गीत को शामिल किया था। यह रोमांचक गीत बाद के वर्षों में देशभक्तों के लिए अदभुत प्रेरणा स्रोत बन गया। वन्देमातरम् का नारा लगाते शहीद होने वाले देश भक्तों की गिनती कठिन है। शश्यश्यामल, सजल-सुफल मातृभूमि का





चित्रण इस वन्दन गीत में बहुत जीवन्त हुआ है और अंतिम पदों में उसे शस्त्रों से सज्जित शक्ति-स्वरूपा दुर्गा के रूप में दिखलाया गया है। हाल के वर्षों में धर्मनिरपेक्षता के अतिरेक में कुछ अल्पसंख्यक इसके गायन में हिचकने लगे हैं पर वह बहस इस समय संगत नहीं। हमारा मकसद सिर्फ यहीं रेखांकित करना है कि भूमि को देवत्व प्रदान करने की उसे पवित्र समझने की परंपरा कितनी पुरानी है।

विवेकानन्द के बाद बालगंगाधर तिलक ने 1911-12 में और सावरकर ने 1923 में भारत का जिक्र मातृभूमि या पितृभूमि का उल्लेख 'पवित्र' या 'पुण्य' धरती के रूप में किया। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू ने अपनी जीवनियाँ तथा अन्य रचनाओं में जिस आत्मीय स्नेह के साथ भारत विषयक टिप्पणियाँ की हैं उनसे भी भारत भूमि की पवित्रता पुष्ट ही होती रही है। नेहरू अपने को अनिश्वरवादी मानते थे पर अपनी वसीयत में जिस तरह उन्होंने गंगा के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है उससे

भी यहीं पता चलता है कि पहाड़ हो या नदियाँ इनके साथ आम आदमी का लगाव कितना जटिल और बहुआयामी होता है और किस तरह लोग सांस्कृतिक विरासत को नकारना या झुठलाना धार्मिक अंधविश्वासों के आलोचकों के लिए और वैज्ञानिक सोच के कर्णधारों के लिए भी असंभव हो जाता है।

भारत को परिभाषित करने के लिए जिन भौगोलिक 'तथ्यों' का सहारा लिया जाता उनमें उत्तर में हिमालय और दक्षिण में समुद्र प्रमुख- चाहे विष्णु पुराण हो या कालिदास जैसे कवियों की रचनाएं भारत का मानचित्र अविभाजित दक्षिण एशियाई प्रायद्वीप के प्राकृतिक विभाजनों का वर्णन करता रहा है। डायना एक अपनी पुस्तक में इन सभी बातों का रोचक, संक्षिप्त ही सही पर सारगर्भित विश्लेषण करती है। वह वासुदेव शरण अग्रवाल सरीखे पारंपरिक विद्वानों का आभार मानती है जिन्होंने पहले-पहल इस बात को रेखांकित किया था कि क्यों हमारे पुरखों ने इस भूमि को देवत्व प्रदान किया था और तीर्थों की 'स्थापना' की थी। इस सिलसिले में उन्होंने आदिशंकराचार्य की भूमिका को महत्वपूर्ण समझा जिन्होंने भारत के चार कोनों में चार धामों की स्थापना कर लगभग पूरे देश को भावनात्मक एकता के सूत्र में बांधने का प्रयास किया था। आज की नई पीढ़ी को यह लग सकता है कि यह तो ब्राह्मणवादी, हिन्दुत्व को बढ़ाने वाली मानसिकता का ही एक उदाहरण है जिसकी कोई उपयोगिता धर्मनिरपेक्ष जनतंत्र में नहीं हो सकती। इस विषय में जरा विस्तार से आगे चल कर टिप्पणी की जाएगी। बहरहाल यह बात याद रखने लायक है कि भूमि को, नदियों को पवित्र घोषित करने का सबसे बड़ा मकसद यह था कि इन्हें बंजर या प्रदूषित होने से बचाया जा सके। डायना एक इसी सिलसिले में बनारस के संकटमोचन मंदिर के महंत बलभद्र मिश्र का भी उल्लेख करती हैं जो रूढ़की

इंजीनियरिंग कॉलेज से हाईड्रॉलॉजी के स्नातक भी थे और जिन्हें हर पल अपने पारंपरिक उत्तराधिकार के साथ अपनी वैज्ञानिक शिक्षा का भी एहसास होता था और जिन्होंने अपने जीवन और कर्म में इन दोनों के बीच की खाई को पाटने का भरसक प्रयास किया। स्वच्छ गंगा अभियान का प्रेरक स्वर उन्होंने ही सबसे पहले मुखर किया था। गंगा के प्रदूषण को दूर करने की चुनौती आज भी बची है। भारत की आबादी के बहुत बड़े हिस्से में जनमानस में गंगा का जो महात्म है उसको देखते यह सोचना कठिन है कि गंगा में अस्थियों का विसर्जन या गंगा तट के किसी घाट पर शवदाह की परंपरा निकट भविष्य में समाप्त होगी। यहीं बात संगम स्थलियों में लगने वाले कुंभ मेलों पर भी लागू होती है। अतः यह समझना परमावश्यक है कि परंपरा का आधुनिकीकरण क्रमशः ही संभव है। पर आम आदमी की पारंपरिक भावना का सदुपयोग निश्चय ही प्रदूषण को नियंत्रित करने के लिए किया जा सकता है। डायना एक इसी संदर्भ में स्वर्गीय बलभद्र मिश्र के एक प्रेरक वाक्य को उद्धृत करती हैं: 'अगर हम गंगा को अपनी मां मानते हैं तब फिर कैसे यह बर्दाश्त कर सकते हैं कि हम या कोई और उसके शरीर पर मल पदार्थ या कूड़े-कचरे का लेप करता रहे?'

लेखिका पाठक का ध्यान बढ़ी सहजता से इस ओर दिलाती है कि भूमि को देवत्व प्रदान करने की या उसे पवित्र समझने की परंपरा सिर्फ हिन्दुओं की नहीं। आज जिस रूप में हम हिन्दू मान्यताओं को पहचानते हैं उनका वर्तमान रूप साकार होने के बहुत पहले से, ईसा के जन्म के चार-पांच सदी पहले से ही यह बात देखी जा सकती है। गौतम बुद्ध का जन्म राजकुमार सिद्धार्थ के रूप में नेपाल की तराई में हुआ, ज्ञान की प्राप्ति उन्हें बिहार में बोधगया में हुई और उन्होंने अपना पहला उपदेश बनारस के निकट सारनाथ में दिया। मौर्य सम्राट अशोक ने

जब बौद्धधर्म स्वीकार किया तो बुद्ध की शिक्षाओं का प्रसार उसके विस्तृत साम्राज्य के हर कोने में हुआ। बौद्ध तीर्थ स्थल देश के विभिन्न हिस्सों में स्थापित हुए। इनमें मध्य भारत में सांची, उड़ीसा में हाथी गुम्फा, महाराष्ट्र में कान्हेरी गुफाएं और अजंता तथा एलोरा, आज के आन्ध्र प्रदेश में नागार्जुनी कोण्डा प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त लद्दाख में तथा अरूणाचल प्रदेश में अनेक ऐसे बौद्ध मठ हैं जो आज भी विश्वभर के बौद्धों के लिए समान रूप से पवित्र हैं। यह भी भारत की पहचान का अभिन्न हिस्सा है। अशोक के साम्राज्य की सीमाएं अफगानिस्तान तक पहुंचती थीं और रेशममार्ग के जरिए बाद के वर्षों में भारत के तीर्थों का नाता मध्य-एशिया और चीन तक जुड़ गया। हजारों साल पहले तीर्थ यात्राएं बहुत कष्टसाध्य थीं पर इसके बावजूद भारत को तीर्थ समझने वाले और यहां की भूमि को पावन मानने वाले फाहियान और ह्वेन सांग जैसे यात्री नालान्दा जैसे विश्वविद्यालयों में अध्ययन करने और पुण्य अर्जित करने के लिए आते रहे हैं।

डायना एक ने एक और महत्वपूर्ण बात को रंखांकित किया है। उन्होंने पाठकों को यह बात याद दिलाई है कि भारत में तीर्थयात्रा की परंपरा बुद्ध के जन्म से भी सैंकड़ों वर्ष पहले से चली आ रही है। महाभारत और रामायण में अनेक पात्र ऐसे हैं जो प्राचीनकाल से चली आ रही तीर्थयात्राओं पर निकलते हैं या तो किसी मनोकामना की सिद्धि के लिए या किसी पाप के प्रायश्चित्त के लिए। इनमें उत्तर में कंदारनाथ, पश्चिमी समुद्र तट पर सोमनाथ और प्रभास तीर्थ, दक्षिण में रामेश्वरम् और पूर्वी छोर पर शक्तिपीठ कामाख्याधाम का बार-बार उल्लेख मिलता है। जैसे बारह ज्योतिर्लिंग पवित्र समझे जाते हैं उसी तरह जहां-जहां सती के अंग गिरे हैं वहां-वहां शक्तिपीठों का माहात्म्य है। वैदिक काल से ही नदियों को और कुछ नगरों को पवित्र समझा जाता रहा है। गंगा-यमुना, गोदावरी-सरस्वती, नर्मदा-सिंधु, कावेरी

सात नदियां एक साथ गिनाई जाती हैं। इसी तरह अयोध्या, मथुरा-माया, काशी-कांची, अवंतिका, पुरीद्वारावती मोक्ष दायिनी नगर माने जाते हैं। यह बात दोहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि यह सारे प्राचीन शहर मात्र धार्मिक महत्व के नहीं बल्कि बुद्ध के जन्म के पहले से ही आर्थिक और सामरिक महत्व के राजमार्गों पर प्रमुख पड़ाव बन चुके थे। इनको पवित्र घोषित करने का एक उद्देश्य यह था कि सैनिक संग्राम के वक्त इनको युद्ध की तबाही से बचाया जा सके। पवित्र समझे जाने वाले तीर्थ स्थानों में निर्मित मंदिर, मठ, स्तूप, शिक्षा और संस्कृति के विकास का मुख्य केन्द्र भी थे और इन्होंने भारतीय संस्कृति के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

जिन लोगों की रूचि भारतीय कला में हैं उनके लिए भी तीर्थ स्थलों और मंदिरों, मठों, विहारों की विकास यात्रा बेहद महत्वपूर्ण है। लेखिका बड़ी संवेदनशीलता के साथ इस बात को समझाती है कि भले ही मंदिरों का ध्वंस और पुनर्निर्माण हमेशा होता रहा है पर इसका मतलब यह नहीं कि मंदिरों का नाश सिर्फ विधर्मी और विदेशी आक्रमणकारियों ने किया था। कई बार प्राकृतिक आपदा या नदी की धारा बदल जाने से भी बस्तियां उजड़ती हैं और उपासना स्थल रख-रखाव के अभाव में खंडहरों में तब्दील होते रहे हैं। इसके अलावा कई बार कोई पराक्रमी शासक किसी पवित्र स्थल में अपने प्रताप के प्रदर्शन के लिए विराट पैमाने पर मंदिरों, स्तूपों या विहारों का निर्माण करवाता है। इसी कारण हमको लगभग हर छोटे-बड़े तीर्थ स्थल में मंदिर या मूर्ति निर्माण की अनेक शैलियां एक साथ देखने को मिलती हैं जिनसे कोई भी कला प्रेमी विभिन्न प्रभावों और उनके समन्वय अथवा मिश्रण के बारे में अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं। कुछ चुनिंदा उदाहरणों से ही यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

सोमनाथ के प्राचीन मंदिर के बारे में यह प्रसिद्ध है कि अफगान आक्रमणकारी

मुहम्मद गजनी ने इसे कई बार तोड़ा और यहां स्थापित शिवलिंग को भी भंग किया। आजादी के बाद इसके पुनर्निर्माण की महत्वाकांक्षी योजना प्रसिद्ध गुजराती लेखक और देशप्रेमी स्वतंत्रता सेनानी के एम. मुंशी तथा सरदार पटेल ने बनाई। मगर इसके पहले भी 18 वीं सदी में इन्दौर की राजमाता अहिल्याबाई होल्कर ने इसी स्थान पर भग्न मंदिर का जीर्णोद्धार करने की योजना बनाई थी। अहिल्याबाई ने ही बनारस के कुछ घाटों की मरम्मत करवाई और यहीं काम हरिद्वार में भी संपन्न किया। ब्रह्मीनाथ के मंदिर का पुनर्निर्माण भी उन्होंने करवाया। जाहिर है कि अलग-अलग समय पर संपन्न निर्माण कर अलग-अलग शैलियों को प्रतिबिम्बित करता है। तन्जौर का बृहदेश्वर मंदिर हो, जिसका शिखर आसमान को छूता है अथवा एलोरा का कैलाश मंदिर जो एक ही दैत्याकार चट्टान को तराशकर बनाया गया है, दोनों शिव को समर्पित होने के बावजूद स्थापत्य की दो बिल्कुल भिन्न शैलियों को दर्शाते हैं और जिनके लिए बिल्कुल पृथक वैज्ञानिक सूझ और तकनीकी कौशल का प्रयोग किया गया है।

अगर गंगा नदी की बात करे तो चेन्नई के निकट महाबलिपुरम नामक स्थान में हमको एक बड़ी सी चट्टान पर गंगावतरण का दृश्य देखने को मिलता है। पत्थर की एक शिला पर सारी जगह मूर्तियां उकेरकर भर दी गई हैं। ध्यान से देखने पर ही यह बात पता चलती है कि चट्टान के बीचो-बीच एक दरार है जिसका अद्भुत रचनात्मक उपयोग मूर्तिकार ने किया है।

पत्थर के इस दोष को उसने अपनी कल्पना शक्ति से एक गुण में बदल डाला है। वर्षा होने पर यह दरार पानी के स्वाभाविक प्रवाह का मार्ग बन जाती है और वास्तव में ऐसा लगता है मानो गंगा ऊपर स्वर्ग से उतर कर धरती तक पहुंच रही है। गंगा के दर्शन और अनेक रूपों में हमको होते हैं। महाबलिपुरम के मंदिर (जैसे पाण्डवों के रथ) चट्टान काट कर बनाए गए हैं और इनका निर्माण

ईसा के जन्म के लगभग छः शताब्दी बाद किया गया। 5-6 सौ साल बीतने के बाद इसी भू-भाग पर चोल राजवंश के शासकों का आधिपत्य हुआ। उनके शासनकाल में न केवल भव्य मंदिरों का निर्माण हुआ बल्कि कांसे की अद्भुत मूर्तियों का निर्माण भी हुआ। इनमें से कुछ मूर्तियों में गंगाधर शिव और मकर पर सवार गंगा के दर्शन होते हैं। उत्तर भारत के मंदिरों में भी गंगावतरण का चित्रण किया गया है पर वहां की मूर्ति कला की शैली बिल्कुल भिन्न है। हिन्दू मंदिरों के ऊंचे शिखरों के बारे में विद्वानों का मानना है कि यह सब शिव के वास समझे जाने वाले कैलाश पर्वत को मूर्तिमान करने का ही प्रयास है। इसी तरह विष्णु की प्रतिमाएं, नटराज की मूर्तियां और पौराणिक आख्यानों का देवी-देवताओं के साथ मंदिर के भित्ती चित्रों पर निर्माण भी विभिन्न शैलियों का आस्वाद भक्तों को मिलता रहा है। बुद्धचरित का आनन्द अश्वघोष के काव्य में लेने के साथ-साथ आस्थावान अजंता की गुफाओं के मंत्रमुग्ध कर देने वाले चित्रों के साथ-साथ लद्दाख और अरुणाचल प्रदेश के गोम्फाओं में संरक्षित थंकाओं के जरिए भी ले सकते हैं। दोनों ही जगह पात्रों के नाक-नक्शा पृष्ठभूमि, रंगों का चयन और शैली का अंतर साफ नज़र आता है।

भारतीय चित्रकला के संदर्भ में राजपूत, मुगल और पहाड़ी कलम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनमें राधा-कृष्ण के अलौकिक प्रेम और गोपियों के साथ कृष्ण के रास का सजीव चित्रण हुआ है। किशोर और नवयुवक कृष्ण की लीलाभूमि मथुरा-वृंदावन के पास का बृज क्षेत्र है पर इन चित्रों के माध्यम से कृष्ण की उपस्थिति बृज से कोसों दूर महसूस की जा सकती है। जहां तक नृत्य और संगीत की विकास यात्रा है कथक, ओड़ीसी, भरतनाट्यम, मोहिनी अट्टम और मणिपुरी रास अपने-अपने तरीके से कृष्ण के साथ रसिक भक्तों का संवाद

संभव बनाते हैं। डायना एक की सबसे बड़ी सफलता इसी में हैं कि उन्होंने पवित्र भूगोल के नाम से जो काम शुरू किया है उसको पूरा करते-करते पाठक के लिए जाने कितने खिड़कियां और दरवाजे खोल दिए हैं जो उसके लिए स्थापत्य, मूर्तिकला, साहित्य, संगीत, नृत्य के साथ भी आत्मीय रिश्ता बनाना सहज करते हैं। पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर राधा-कृष्ण का एक रंगीन चित्र छपा है जो किताब हाथ में लेते ही दर्शक के मन में विभिन्न चित्रकारों द्वारा इन अलौकिक नायक, नायिकाओं के दूसरे रूपों में दर्शन करने की उत्सुकता जगाता है। पुस्तक के भीतर शायद स्थानाभाव के कारण बहुत कम चित्र शामिल किए गए हैं और यह सभी काले और सफेद है और इनमें से अधिकांश तीर्थों की सम-सामयिक स्थिति ही दर्शाते हैं पर फिर भी इनका अध्ययन बहुत सारी जानकारी आसानी से ग्रहण करने में सहायक है। छठी शताब्दी में देवगढ़ से प्राप्त शेष शैल्या पर सोये कीरीटधारी विष्णु की मूर्ति देखने वाला जब 7-8 सौ साल पहले निर्मित चोल-कांसे की मूर्तियों में विष्णु के दर्शन करता है तब वह इसके गहरे प्रभाव का आंकलन स्वयं बिना किसी अध्यापकीय भाषण के कर सकता है। देवगढ़ मध्य भारत में हैं और चोलों ने राज किया था दक्षिण भारत में। अतः यह सुझाना तर्क संगत है कि तकनीकी ज्ञान, शिल्प और कलात्मक प्रभाव तीर्थ यात्रियों के साथ-साथ देशभर में फैलते रहे हैं और भूमि को देवत्व प्रदान किए बिना यह काम संभवतः कभी पूरा नहीं होता।

लेखिका काल के प्रवाह के साथ परंपरा के मूल रूप के प्रदूषण के संकट से अनजान नहीं। जहां भी मौका मिला है वह अंधविश्वासी कर्म-काण्ड से होने वाले नुकसान या साम्प्रदायिक तनाव की तरफ ध्यान दिलाती है पर कुल मिलाकर उनका नजरिया भारत की बहुलवादी संस्कृति के प्रति सद्भावना का है और वह देश की एकता और अखण्डता को

पुष्ट करने वाली भावनात्मक एकता के पावन पक्ष को महत्वपूर्ण समझती है।

मसलन जब वह कृष्ण से जुड़े तीर्थों या पवित्र स्थलों की बात करते हैं तो राजस्थान की संत कवि मीराबाई के साथ-साथ बंगाली भक्त कवि चैतन्य का उल्लेख भी करती हैं जिन्होंने जगन्नाथपुरी को अपनी कर्म भूमि बनाया था। इसी तरह गीत-गोविन्द के रचयिता जयदेव की अष्टपदी को ही ओड़ीसी नृत्य की आत्मा समझा जा सकता है। केरल का कथकली महाभारत के दूतवाक्यम या वेणी संहार वाले दृश्यों के बिना निर्जीव ही रह जाता है। उत्तर भारत में सूर के वात्सल्य रस का बखान करने वाले पदों के अभाव में टुमरी गायन या कथक नृत्य की कल्पना कठिन है। बहुलता के सहअस्तित्व ने लगभग सभी प्रदेशों की सांस्कृतिक विरासत को समृद्ध बनाया है। मीरा के हिन्दी भजनों को गाने वाली तमिलभाषी एम.एस सुब्बालक्ष्मी इन्हीं की कृपा से अमर भारतरत्न बन सकी। संक्षेप में भारत का पवित्र भूगोल समझे बिना भारत की जगमगाती सांस्कृतिक विरासत का अनुमान लगाना आसान है। यदि पाठक ध्यान से एकाधिक बार इस पुस्तक को पढ़ लेता है तो उसे पाठ्यक्रम में निर्धारित बहुत सारी जानकारी अनायास ही याद हो जाएगी जिसका उपयोग वह जरूरत के अनुसार प्रश्नों का उत्तर देते वक्त या निबंध लेखन में कर सकता है।

डायना एक ने इस बात को भी रेखांकित किया है कि तीर्थ यात्रा की अवधारणा बौद्धों, जैनों और हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं। हिन्दुस्तान में अनेक स्थानों में सूफी-संतों की दरगाहे हैं-जम्मू-कश्मीर राज्य में चरार शरीफ और पीर दस्तगीर की मजार से लेकर अजमेर में गरीब नवाज़ शेख मुइउद्दीन चिश्ती की दरगाह से लेकर दक्खन में करमान शाही सूफियों की मजारों दरगाहों तक चिश्तियां, नक्शबंदी, कादरी या सुहरावर्दी सिलसिलों के तर्किए (गद्दियां) देखने को मिलते हैं। अमृतसर में सिखों के

पवित्रम तीर्थ स्थान स्वर्ण मंदिर की नींव रखने के लिए मियां-मीर नामक सूफी संत को आमंत्रित किया गया था। गुरुनानक की वाणी में मुक्तहस्त से कबीर के साथ-साथ सूफी-संतों, बुल्लेशाह और बाबा फरीद के वचनों का समावेश किया गया है अर्थात् भारतीय परंपरा में पवित्र को साम्प्रदायिक खांचों में नहीं बांटा जा सकता है। अकबर ने ही नहीं मंदिरों को तोड़ने वाले औरंगजेब तक ने कुछ हिन्दू धर्म स्थलों को अपना संरक्षण प्रदान किया और दान दिया।

लेखिका ने भले ही अपनी पुस्तक का शीर्षक पवित्र भूगोल रखा है इसकी विषय वस्तु एक बहुत व्यापक फलक को समेटती है। पवित्र का अर्थ किसी धर्म विशेष की मान्यता तक सीमित नहीं है बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि वह भौतिक के परे आध्यात्मिक के सीमांत को छूती है। सृष्टि के आरंभ, ब्रह्मांड के विस्फोट के बारे में प्राचीन भारतीय अवधारणाएं और आधुनिक खगोलशास्त्री स्थापनाएं काफी मिलती-जुलती हैं इसे मात्र संयोग नहीं कहा जा सकता। प्रिज्वौफ काप्रा जैसे भौतिक शास्त्री नटराज शिव की मूर्ति में सृष्टि और प्रलय और पुनः सृष्टि के अनवरत चक्र का रूपक देखते हैं। लेखिका ने इस बात को आत्मसात किया है कि भूमि को देवत्व प्रदान करने वाले पुरुष और प्रकृति जड़-पदार्थ और चंचल ऊर्जा के अंतर को समझे बिना पृथ्वी और मनुष्य के रिश्ते की पवित्रता को समझा नहीं जा सकता। एक के बिना दूसरा अधूरा है। इसीलिए मनुष्य को हमेशा प्रकृति (पर्यावरण) के संरक्षण की चिंता रहनी चाहिए। उसका अपना अस्तित्व इसी पर निर्भर करता है।

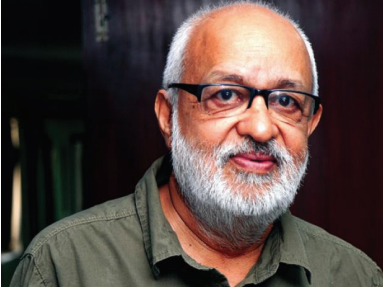
इस किताब का एक रोचक पक्ष तीर्थ यात्रा और पवित्र स्थलों के पर्यावरण पर विज्ञान और टेक्नोलॉजी की प्रगति से जुड़ा है। लेखिका ने हमारा ध्यान इस ओर दिलाया है कि कैसे रेलगाड़ियों, मोटर वाहनों और अब वायु सेवाओं ने दूरस्थ तीर्थों तक यात्रियों को बड़ी संख्या

में पहुंचना सहज बनाया है और कैसे इस भीड़ के कारण यात्रा का स्वरूप बदल गया है। जाहिर है कि पारंपरिक पाप और पुण्य की अवधारणा भी बदलते समय के साथ बदली है। मध्यवर्गीय शहरी यात्रियों से उस तरह की अंधी आस्था की अपेक्षा व्यर्थ है जो कर्म-काण्ड के वक्त पारंपरिक निर्देशों और निषेधों का सत प्रतिशत पालन करे। खाने-पीने और रैन-बसेरे के मामले में खुशहाल तीर्थयात्री धर्मशाला पर निर्भर नहीं और समयाभाव के कारण तीर्थ यात्रा के स्वरूप को किसी और पर्यटक अभियान की तरह सुनियोजित तरीके से संपन्न करना चाहते हैं। तीर्थाटन, पर्यटन के दुष्परिणाम हाल के वर्षों में उत्तराखण्ड में आकस्मिक प्राकृतिक आपदाओं के निरंतर विकराल होने में नज़र आने लगे हैं। कुंभ जैसे मेलों में जहां तीस-चालीस लाख लोग महास्नान के लिए जमा होते हैं सीमित समय में सही मूर्हूत में ढुबकी लगाने के लिए भगदड़ मचने की संभावना रहती है किसी दुर्घटना से बचने के लिए उपग्रहों का, मोबाइल फोनों का, अस्थाई पुलों का, क्लोज सर्किट टी.वी. कैमरों और पेयजल के टैंकों की फौज का बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया जाता है। किसी को आधुनिक टेक्नोलॉजी के इस प्रयोग से शिकायत नहीं होती। यह सुझाना तर्क संगत है कि गंगा या यमुना के पानी को स्वच्छ करने का अभियान हो या किसी प्राचीन मंदिर के पुनर्निर्माण की चुनौती पुराने और नये के बीच सामंजस्य बैठाना ही हमारी प्राथमिकता होनी चाहिए।

हाल में एक बहुत गरम बहस इस बात को लेकर चलती रही है कि क्या पवित्र उपासना स्थलों में महिलाओं को (जहां अब तक उनका प्रवेश वर्जित था) आज अंदर जाने की अनुमति दी जा सकती है। भले ही अदालतों ने महिलाओं के पक्ष में फैसला सुना दिया है पर आज भी इसका विरोध जारी है और लड़ाई अभी बाकी है। लेखिका इस बात को भलीभांति समझती है कि जनतंत्र में समता के

बुनियादी अधिकार से आधी आबादी को वंचित नहीं रखा जा सकता। यह प्रश्न सिर्फ महिलाओं के प्रति भेदभाव का ही नहीं है। पवित्र का उपभोग या उपयोग जो चाहे कहिए किसी एक वर्ग का विशेषाधिकार नहीं हो सकता। दलितों के मंदिर में प्रवेश को लेकर महात्मा गांधी को एक सत्याग्रह करना पड़ा था इसे एक निन्दनीय विडंबना ही कहा जा सकता है कि उनके देहांत के लगभग 7 दशक बाद भी किसी पारंपरिक देवालय में पुरोहित के रूप में काम करने से उनको सिर्फ परंपरा के नाम पर रोका जाता है। लेखिका इस बात को अच्छी तरह समझती है कि विवाद का निपटारा संवाद से ही हो सकता है हिंसक मुठभेड़ से नहीं। यहीं जनतंत्र की आत्मा है।

हमारी समझ में यह सहानुभूति और दूरदर्शी सोच ही डायना एक की किताब को वैन्डी डोनिंजर की किताबों से कहीं अधिक सार्थक और महत्वपूर्ण बनाता है। वैन्डी का मकसद भारत के समसामयिक राजनीतिक विवादों को तूल देना और भारतीय देवी-देवताओं का चित्रण अश्लील रूप से कर अपनी पुस्तक की बिक्री बढ़ाने तक सीमित रहा। इस काम में उनकी सहायता चाहे-अनचाहे अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के हिमायती तरक्की पसंद उदार तबके ने की। जब आप डायना एक की किताब पढ़ना समाप्त करते हैं तब आपको यह बात पता चलती है कि सहानुभूति रखने वाला मित्र आलोचक कितना असरदार हो सकता है। पुस्तक में एक जगह लेखिका ने विदुषी कपिला वात्स्यायन का एक वाक्य उद्धृत किया है: 'पहाड़ों, सागरों, जंगलों, रेगिस्तानों और दलदलों के साथ मनुष्य के सजग रिश्तों के अनुभव ने ही साहित्य के उस अपार भण्डार का सृजन किया है जिसने इस विशाल और विविधता से भरे इस देश की एकता को और स्वाधीनता को पुष्ट किया है'। यह बात हमें स्वीकार करनी ही होगी कि भूमि को पवित्र समझे बिना इस रिश्ते का निर्वाह असंभव है। □



प्रो. पुष्पेश पंत

इस पुस्तक के लेखक की गणना दुनिया के सौ चोटी के विचारकों में होती है उन्हें शिखर पर यह स्थान प्रतिष्ठित या मशहूर फॉरन पॉलिसी नामक पत्रिका ने दिया है। उन्होंने अब तक 20 से अधिक चर्चित पुस्तकें लिखी हैं और इससे ठीक पहले प्रकाशित द रिवेन्ज ऑफ जॉर्ग्राफी नामक पुस्तक बहुत पढ़ी और सराही गई है। 2009 से 2011 तक कापलान अमेरिकी रक्षा मंत्रालय पेन्टागन के नीति-निर्धारक बोर्ड के सदस्य रहे हैं और अमेरिकी नौसैनिक अकादमी के अतिथि प्राध्यापक भी रहे हैं इन बातों का जिक्र इसलिए जरूरी है कि यह बात शुरू में ही स्पष्ट हो जाए कि उनका नजरिया मूलतः अमेरिकी राष्ट्रहित केंद्रित ही होता है।

पिछले एक दशक में यह बात अक्सर कही जाती रही है कि शक्ति का तराजू अब यूरोप से एशिया की तरफ झुकने लगा है। यों 20 वीं सदी के अंत से ही यह दावा पेश किया जाने लगा था कि आने वाली 21 वीं सदी एशिया की होगी। यह कहने वाले भारतीय और चीनी तो थे ही अमेरिकी प्रशासन ने भी इस महत्वाकांक्षा का समर्थन किया। यहां एक भौगोलिक यथार्थ की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है- अमेरिका का पश्चिमी तट प्रशांत महासागर पर स्थित है। अतः अमेरिका यह समझता है कि उसका शुमार

एशियाज् काल्डून द साउथ चाइना सी एण्ड द एण्ड ऑफ ए स्टेबल पैसेफिक

लेखक: रॉबर्ट डी कापलान

भी एक एशियाई ताकत के रूप में किया जाना चाहिए और उसे बाहरी हस्तक्षेपकारी ताकत के रूप में बदनाम नहीं किया जाना चाहिए। अमेरिका का एक राज्य हवाई प्रशांत महासागर में स्थित है अतः उसका यह दावा बिल्कुल निराधार नहीं कहा जा सकता। एक दूसरा राज्य अलास्का भी एशियाई जमीन से जुड़ा है इसकी सरहद रूसी साइबेरिया और चीन के पूर्वी छोर को छूती नजर आती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से अमेरिका की उपस्थिति शीतयुद्ध के सामरिक दबाव में अनेक एशियाई देशों में रही है और एशियाई क्षेत्रीय एकीकरण के अनेक प्रयासों का प्रेरणा स्रोत अमेरिका रहा है।

वियतनाम युद्ध के दौरान लाखों की तादाद में अमेरिकी सैनिक वियतनाम में तैनात रहे थे और वियतनाम युद्ध के संचालन के लिए जापान और थाइलैण्ड की भूमि पर बड़े-बड़े सैनिक अड्डों का निर्माण और रख-रखाव अमेरिका द्वारा किया जाता रहा। इसलिए अनेक एशियाई देशों का अमेरिका के साथ गहरा परिचय है। जापान और ताइवान तथा दक्षिणी कोरिया लगभग आधी सदी तक अमेरिकी छत्र-छाया में ही अपनी सम्प्रभुता का आनंद लेते रहे हैं। 1965 में इंडोनेशिया में एक तख्ता पलटने और उसके बाद एक रक्तरंजित क्रांति ने सुकाणों युग को समाप्त कर दिया और जनरल नसुतियोन और सुहार्तो तथा उनके उत्तराधिकारियों के शासनकाल में इंडोनेशिया ने अपने विकास

के लिए अमेरिकी सलाह और मॉडल को ही सर्वोपरि समझा। दक्षिण पूर्व एशिया में ही फिलिपीन्स भी स्थित है जिसकी छवि अमेरिकी उपनिवेश जैसी रही है। वैसे अमेरिका खुद को कभी उपनिवेशवादी या साम्राज्यवादी नहीं मानता परन्तु फिलिपीन्स के साथ उसका रिश्ता कुछ ऐसा है जैसा अधिपति और अधीनस्थ का होता है। कई बार लोग यह व्यंगात्मक टिप्पणी कर चुके हैं कि फिलिपीन्स अमेरिका का 51 वा राज्य है!

दक्षिण पूर्व एशिया में ही नहीं पश्चिम एशिया में भी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से आज तक लगातार अमेरिका की निर्णायक भूमिका रही है। इजराइल की स्थापना के साथ ही (जिसे अमेरिका का पूरा संरक्षण, समर्थन और प्रोत्साहन प्राप्त था) अरब यहूदी संघर्ष का आरंभ हो गया। 1947-48 से जो सैनिक संग्राम आरंभ हुआ वह आज तक जारी है। अबतक तीन-तीन बड़े युद्ध लड़े जा चुके हैं और अघोषित युद्ध या गृहयुद्ध जैसी स्थिति तो चार दशक से चली आ रही है। इस संघर्ष में अमेरिका ने अपवाद स्वरूप सउदी अरब को अपना संधि मित्र बनाया है और रणक्षेत्र की तात्कालिक सामरिक जरूरत के अनुसार इस या उस देश के साथ उसकी दोस्ती-दुश्मनी घटती-बढ़ती रही है। जब तक सोवियत संघ का अस्तित्व था उसकी घेराबंदी के लिए अमेरिका यह महसूस करता था कि एशियाई देशों की जरूरत सामरिक सहयोगी के रूप

में अनिवार्यतः पड़ेगी। जहां तक यूरोप का सवाल था जर्मन के बटवारे के बाद वहां लोहे का पर्दा खींच चुका था और वहां की मोर्चाबंदी सख्त थी। घुसपैठिये हमलावरों से अपने मित्रों को बचाने के लिए अमेरिका ने चौकीदार की भूमिका सहर्ष ग्रहण कर ली थी। ऐसा उसने किसी परोपकार के भाव से नहीं किया था बल्कि अपने स्वार्थ साधन के लिए ही किया था। यह पृष्ठभूमि दोहराना इसलिए जरूरी है कि यह बात पाठक भलीभांति समझ ले कि जब कोई अमेरिकी विश्लेषक या विद्वान एशियाई शताब्दी की बात करता है या एशिया के पक्ष में अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन या समीकरण बदलने की चर्चा गरम होती है तो वास्तव में उनकी चिंता का विषय अमेरिका की सामरिक हस्ती पर एशिया के घटनाक्रम के प्रभाव तक ही मुख्यतः सीमित रहती है। यह पुस्तक इसका अपवाद नहीं।

बात आगे बढ़ाने से पहले एक और स्पष्टीकरण जरूरी है। अंग्रेजी शब्द काल्ड्रन का अनुवाद खौलता कड़ा ही किया जा सकता है। लेखक की नज़र में एशिया का एक छोटा सा हिस्सा दक्षिणी चीन सागर से लेकर पश्चिमी प्रशांत महासागर तक वाला एशियाई भू-भाग और जलराशि है। इस पुस्तक में एशिया के उस हिस्से का जिक्र कहीं-कभार नाम मात्र को ही है जहां खरबों बैरल तेल का खनन कर प्रतिदिन खरबों डॉलर की कमाई अमेरिका के मित्र करते हैं। अर्थात् पूरा का पूरा अरब जगत पश्चिम एशिया यहां से नदारद है। कुल मिलाकर एशिया की चिंता क्या सिर्फ साउथ चाइना सी और प्रशांत महागर की स्थिरता तक ही सीमित है? यह सच है कि प्रशांत महासागर जापान और फिलिपीन्स ताइवान और कोरिया के लिए उनका तटवर्ती सागर है पर बाकी दक्षिण पूर्व एशिया के संदर्भ में हिन्द महासागर ही महत्वपूर्ण है। विडंबना यह है कि इस घड़ी अमेरिका के सामने सबसे बड़ी चुनौती चीन की है। चीन ने साउथ चाइना सी पर जिस तरह अपना आधिपत्य

स्थापित कर अपने प्रभुत्व का क्षेत्र अधिक से अधिक फैलाने का प्रयास किया है उस कारण जापान और वियतनाम ब्रूनेई, मलेशिया चिन्तातुर है। चीन की नौसैनिक गतिविधियों से परेशान फिलिपीन्स अकेला ऐसा देश है जिसका एक पहलू प्रशांत महासागर की तरफ खुलता है। यह सब देखते हुए यह सुझाना तर्कसंगत लगता है कि किताब का शीर्षक काफी भ्रामक है।

लेखक ने पुस्तक को अध्यायों में बाटा है जिसके अलावा एक संक्षिप्त आमुख और छोटा सा उपसंहार है पहले आमुख में एक बहुत व्यापक ऐतिहासिक फलक को उकेरने का प्रयास किया गया है। इस हिस्से का शीर्षक चम्पा के भग्नावशेष है। चम्पा और फूनान हिन्दू संस्कृति से प्रभावित वह राज्य थे जिनकी स्थापना आज के वियतनाम वाली जमीन में ईसा के जन्म के आस-पास की जा चुकी थी। वियतनाम के संग्रहालयों में देखी गई मूर्तियों का जिक्र लेखक ने इस हिस्से में किया है। जहां सिंह का वाहन नन्दी नहीं बल्कि गजसिंह है और जहां शिव के साथ-साथ ब्रह्मा और विष्णु की मूर्तियां भी साथ-साथ रखी गई है। इन्हें देखते लेखक को यह बात याद आती है कि इतिहास और कुछ नहीं संस्कृतियों के भग्नावशेष का अवलोकनभर है। मजेदार बात यह है कि भले इस आमुख में लेखक वियतनाम और इसके साथ जुड़े भू-भाग पर कम्बोडिया और लाओस में भारतीय हिन्दू सांस्कृतिक प्रभाव को स्वीकार करता है शेष पुस्तक में भारत की सामरिक भूमिका की संभावना का विश्लेषण करने की जहमत लेखक ने नहीं उठाई है।

पहला अध्याय मानवीय दुविधा शीर्षक वाला भूगोल और इतिहास राजनीति और अर्थशास्त्र को एक साथ परोसने का प्रयास करता है। अध्याय का पहला वाक्य निश्चय ही काफी विचारोत्तेजक है। यूरोप के मानचित्र पर नज़र डाले तो वह भूगोल मुख्यतः धरातल का है और यदि पूर्वी एशिया पर नज़र डाले तो वहां जलराशि

ही प्रमुख नज़र आती है। लेखक की राय में यही 20 वीं और 21 वीं सदी का मुख्य अन्तर है। जब लेखक जलराशि, समुद्र या महासागर का उल्लेख करता है तो अनायास ही वह नौसैनिक शक्ति के महत्व या प्रक्षेपपास्त्रों पर आधारित रणनीति के आयाम को रेखांकित करता है। इसी संदर्भ में इंडोनेशियाई आर्कीपिलेगो, कोरियाई प्रायद्वीप आदि महत्वपूर्ण बन जाते हैं। यहां इस बात की ओर ध्यान दिलाने की जरूरत है कि यहां लेखक का दृष्टिकोण व्यापक नहीं बल्कि जरूरत से ज्यादा संकुचित होता नज़र आता है। क्योंकि पूरे एशिया के भी नहीं सिर्फ पूर्वी एशिया को संदर्भ में सरलीकरण और समानीकरण किए गए हैं जिनसे विश्लेषण असंतुलित होता नज़र आता है। सिर्फ दो पन्नों में (पृष्ठ संख्या 6-7) में लेखक सागर में गागर भरने का असफल प्रयत्न करता है।

19 वीं सदी में मांचूवंश का पतन और जापान का आधुनिकीकरण के बाद उदय ऐसी घटनाएं हैं जिनके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर असर को कुछ ही वाक्यों में निपटाना अस्पष्ट है। यह बात इसलिए भी बेकार लगेगी है क्योंकि 20 वीं सदी के दूसरे दशक में चीन और जापान दोनों की ही भूमिका में फिर नाटीय आमूल-चूल परिवर्तन हो चुका है। लेखक पूर्वी एशिया में कोरियाई युद्ध (1950-53) और 1950 के दशक के मध्य से 1970 के दशक के मध्य तक हिन्द-चीन में चले क्रांतिकारी मुक्ति संग्राम का उल्लेख भर एक पैराग्राफ में करने के बाद लेखक 21 वीं सदी में इसी रणक्षेत्र में विमानवाहक पोतों की रफतार या महासागर की जलराशि पर अदृश्य पर वास्तविक सीमा रेखाओं का जिक्र करने लगता है। इसी तरह अगले पन्ने पर माओज़ेदोंग की व्यक्ति पूजक कुनबापस्त तानाशाही के बाद दैंगसिओपिंग के कार्यकाल में चीन की अर्थव्यवस्था का कायाकल्प और उदारीकरण जैसे बदलाव गिनाने भर से पाठक को कोई भी नई अन्तर दृष्टि नहीं दे सकते। इसी सिलसिले

में लेखक इन्डोनेशिया का जिक्र भी करता है जिसकी संभावना उसे दूसरे 'भारत' बनने वाली लगती है। भारतीय पाठक को जरूर यह बात अटपटी लगेगी कि असली भारत की अनदेखी कर वह किसी अन्य देश के दूसरा भारत बनने की संभावना को अधिक गंभीरता से लेता है। सिंगापुर की बात करना और भी विचित्र लगता है क्योंकि वह देश चाहे कितना ही सुशासित और खुशहाल क्यों ना हो है एक छोटा सा नगर राज्य ही जिसकी तुलना भारत जैसे किसी बड़े देश के किसी महानगर के एक हिस्से की नगरपालिका के क्षेत्र या संसदीय निर्वाचन क्षेत्र से ही करना उचित लगता है।

अध्याय का शीर्षक कम भ्रामक नहीं। मानवीय दुविधा (ह्यूमनिस्ट डिलेमा) को पढ़कर ऐसा लगता है कि वास्तविक समस्या वैश्विक है, मानवीय अधिकारों से जुड़ी है या इस धरती पर मनुष्य जाति के अस्तित्व से। थोड़ा आगे बढ़कर यह साफ हो जाता है कि यहां भी रॉबर्ट कापलान की दृष्टि अमेरिकी राष्ट्रहित के सिलसिले में ही संसाधनों का भण्डार, विशाल बाजार या सामरिक संवेदनशीलता वाले मर्मस्थल तलाश कर रही है। वह साउथ चाइना सी की तुलना पश्चिमी प्रशांत महासागर और हिन्द महासागर की गर्दन से करते हैं अर्थात अगर कोई गर्दन दबा देता है तो बाकी शरीर निष्प्राण हो जाएगा।

अमेरिका के लिए साउथ चाइना सी पश्चिम एशिया से भी अधिक खतरनाक ढंग से खौलता कढ़ा बन गया है क्योंकि पश्चिम एशिया से पूर्वी एशिया तक पहुंचने वाला करोड़ों टन तेल मलक्का जल डमरू मध्य और सुन्डा जल डमरू मध्य से ही गुजरता है इसकी मात्रा स्वेज नहर से गुजरने वाले तीन गुना और पनामा नहर से गुजरने वाले तेल से पन्द्रह गुना ज्यादा है। दक्षिणी कोरियाई की ऊर्जा जरूरतों का 75 प्रतिशत हिस्सा जापान की ऊर्जा जरूरत का 60 प्रतिशत हिस्सा और चीन द्वारा आयात किए जाने वाले 80 प्रतिशत हिस्सा इसी जलमार्ग पर निर्भर है।

इन आंकड़ों से यह बात साफ-साफ पता चल जाती है कि चीन के लिए 'अपनी' इस गर्दन को दूसरों के शिकंजे से बचाए रखने की कितनी सख्त जरूरत है। इसी तरह जापान दक्षिणी कोरियाई के लिए भी यह जीवन-मरण का प्रश्न है। वियतनाम, इन्डोनेशिया और मलेशिया की आशंकाएं भी कम गंभीर नहीं। एक बात और याद रखने लायक है कि जहां फारस की खाड़ी का महत्व सिर्फ तेल के आयात निर्यात के लिए है वहां दक्षिणी-चीनी सागर वाला जलमार्ग तेल के लिए ही नहीं वल्कि हर तरह के कच्चे माल तथा मशीनरी आदि के लिए भी बेहद महत्वपूर्ण है।

इसी अध्याय में रॉबर्ट कपलान ने दो अन्य महत्वपूर्ण मुद्दों को चलते-चलते सतही तौर पर छूआ है जिनके संदर्भ में विस्तृत टिप्पणी की दरकार थी। 20 वीं सदी में एशिया में राष्ट्रवाद और उग्रराष्ट्रवाद के उदय तथा शीतयुद्ध के अवसान के बाद नये अन्तर्राष्ट्रीय समीकरणों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। चीन साम्राज्यवादी हो, राष्ट्रवादी, माओवादी या सुधारवादी अपने पारंपरिक राष्ट्रहितों के साथ लेशमात्र समझौते के लिए तैयार नहीं होता। उसके भू-राजनैतिक दावे कभी भी संकुचित नहीं होते। इसी तरह वियतनाम की राष्ट्रियता के स्रोत लगभग एक हजार वर्ष पहले चीन के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष तक तलाशे जा सकते हैं। लेखक जिस और एक बात को यथोचित महत्व नहीं देता वह इस्लामी कट्टरपंथी का उदय है। इन्डोनेशिया में विश्व की सबसे बड़ी मुस्लिम आबादी बसती है। मलेशिया की पहचान भी इस्लामी संस्कार वाले राज्य की बनती जा रही है। दक्षिणी थाइलैण्ड और दक्षिणी फिलिपीन्स बरसों से कट्टरपंथी इस्लामी उपद्रव की चपेट में है। चीन स्वयं इस संकट के प्रति सतर्क है क्योंकि पूर्वी तुर्कस्तान में उगयुर मुसलमानों की हिंसक कार्यवाही ने उसके लिए सरदर्द पैदा किया है। वह इस मामले में निशंक नहीं बैठ सकता

कि अफगानिस्तान से सोवियत संघ को खदेड़ने के लिए जिस तरह अमेरिका ने पाकिस्तान में तालिबान की फसल उगाई थी कही उसी तरह चीन को पछाड़ने के लिए वह इस इलाके में उग्रराष्ट्रवाद और मजहबी उन्माद के सन्नीपात से कुछ स्वार्थ-साधक शरारत न करने लगे। आज किसी को यह बात बहुत दूर की कौड़ी लग सकती है पर सच यह है कि अमेरिका द्वारा पैदा किए रक्तबीज राक्षसों ने ही ईराक, सीरिया, लीबिया, ग्लिस, सूडान, यमन में बवंडर मचा रखा है। इन सब के ऊपर शुरू से सउदी अरब का वरहदहस्त रहा है जहां पनप रहे उग्र आक्रामक वाहाबी इस्लाम की खतरे की अनदेखी अमेरिका जानबूझ कर करता रहा है।

दूसरे अध्याय का शीर्षक चाइनाज् करेबियन है अर्थात अंटलांटिक महासागर में वेस्ट-इंडीज के छोटे-छोटे द्वीप राज्यों के साथ महाशक्ति अमेरिका के रिश्ते हैं (जिन्हें पूरा विश्व स्वीकार करता है) कुछ वैसी ही स्थिति चीन की दक्षिणी पूर्व एशिया में है। तीसरे अध्याय का शीर्षक है वियतनाम की नियति। यह बात फिर बहुत अटपटी लगती है कि जिस वियतनाम में परास्त होकर अमेरिका को बहुत बेआबरू हो कर लौटना पड़ा था आज उसी के बारे में कपलान जैसे लेखक यह चेतावनी देते हैं कि उसका विखण्डन (फिनलैन्डीकरण) चीन द्वारा हो सकता है। साथी लेखक यह वाक्य भी लिख डालता है अब तो जो कुछ होना है वियतनाम के ही हाथ में है। हालांकि, अपने बचाव के लिए वह यह भी जोड़ देते हैं कि वियतनाम आक्रामक चीन का मुकाबला करने में कितना सफल होता है वह इस बात पर निर्भर करेगा कि अमेरिका इस संघर्ष में उसकी कितनी मदद किस तरह से करता है। जब से वियतनाम का एकीकरण हुआ है उसकी अर्थव्यवस्था और राजनीति पर अमेरिका का प्रभाव निरंतर बढ़ता गया है। आज के वियतनाम को खोचिमिन या जनरल जियाब

का जुझारू स्वाभिमानी कट्टर देश-प्रेमी, बलिदानी देश नहीं कहा जा सकता। यह सोचना कठिन है कि वह जान पर खेल कर चीन से टकराने को सहर्ष तैयार हो जाएगा खासकर तब जब यह मुठभेड़ उसके अपने राष्ट्रहित में नहीं बल्कि अमेरिका द्वारा अपने स्वार्थ-साधन के लिए प्रायोजित हो। अमेरिका ने पिछले चौथाई सदी से वियतनाम को आर्थिक सहायता तो दी है पर वहां उपभोगवादी अपसंस्कृति का प्रसार भी किया है। दक्षिणी ही नहीं उत्तरी वियतनाम भी आज आकर्षक पर्यटक केन्द्र है और उसकी पहचान एक कोमल राज्य जैसी बनती जा रही है।

चौथा अध्याय सभ्यताओं के संगम का सवाल उठाता है। शीर्षक पढ़ते ही सैमवल हंटिंगटन क्लैश ऑफ सीविलाइजेशन की याद आती है। एक सदी पहले रडियार्ड किपलिंग नामक कवि ने अविश्वरणीय पंक्ति लिखी थी ईस्ट इज ईस्ट एण्ड वैस्ट इज वैस्ट एण्ड द टवेन शैल नेवर मीट! लेखक की कोशिश यह दर्शाने की लगती है कि वास्तव में 21 वीं सदी में अंग्रेजी भाषा और यूरोपीय उपनिवेशीकरण के कारण पूरब के अनेक देशों की संस्कृति पश्चिमी सांचे में ढल चुकी है और यह टकराव अब शेष नहीं रहा। जहां तक हंटिंगटन का सवाल है उनकी निगाह में सभ्यताओं की मुठभेड़ बुनियादी तौर पर नस्ल और धर्म जनित भेद-भाव के कारण थी जिसकी जटिल जड़े उन्होंने सदियों पहले के वैमनस्य और हार-जीत के उतार-चढ़ाव भरे इतिहास चक्र से ढूँढ निकाली थी। अगर कपलान के तर्क को स्वीकार कर ले तब हमें यह बात भी कबूल करनी पड़ेगी कि पिछले सौ साल का इतिहास उससे पहले के हजार साल के इतिहास पर भारी पड़ता है। इन पंक्तियों के लेखक का मानना है कि जिन प्रसिद्ध एशियाई लेखकों का जिक्र कपलान ने अपने कथन की पुष्टि के लिए किया है वह सब अमेरिकी बौद्धिक परंपरा की ही पौधे कहे जा सकते हैं। भले ही मलेशिया

के सैय्यद हुसैन अलाश हो या सिंगापुर के मेहबूबानी किशोर जो मलेशियाई 'चरित्र' और एशियाई मूल्यों की बात करते हैं- घुमाफिरा कर कही ना कही पूंजीवादी अमेरिकी जनतंत्र के अनुकरण के लिए ही उतावले जान पड़ते हैं।

पांचवा अध्याय सिंगापुर पर केन्द्रित है जिसमें लिक्वान्यूका महिमामंडन है। यह सच है कि लिक्वान्यू एक तानाशाह थे जिन्होंने अपने नगर राज्य को एशियाई भ्रष्टाचार से पूरी तरह मुक्ति दिलाई और भीषण राजनैतिक उथल-पुथल के दौर में भी तमाम सम्प्रदायिक हिंसा के प्रसार के अपने देश में शांति और सुव्यवस्था बनाई रखी पर यह बात भुलाई नहीं जानी चाहिए कि 225 वर्ग किलोमीटर क्षेत्रफल वाले सिंगापुर के अनुभव को बड़े देशों के लिए सबक नहीं बनाया जा सकता। इस बात को भी न भूले कि सिंगापुर इसीलिए निरापद रह सका क्योंकि उसे पहले ब्रिटेन और पर परोक्ष रूप से अमेरिकी संरक्षण प्राप्त था। चीन स्वयं यह नहीं चाहता था कि चीनी बहुल आबादी वाला सिंगापुर जो भविष्य में जातीय आधार पर हॉगकांग की तरह उसका सहयोगी बन सकता है-अस्थिर हो या आर्थिक विकास से विमुख हो। सिंगापुर के बंदरगाह का उपयोग हिन्द महासागर तक अपनी पहुंच अबाध रखने के लिए सभी बड़ी शक्तियों में एक अन कही सहमति बनी रही है।

छठा अध्याय पुस्तक का सबसे कमजोर हिस्सा है जिसमें अमेरिका के औपनिवेशिक बोझ फिलिपीन्स का बखान है। फिलिपीन्स के बारे में कभी किसी मसखरे ने एक बड़ी रोचक टिप्पणी की थी कि वह हॉलीवुड के अभिनेताओं और किसी ईसाई कान्वेन्ट की बेमेल शादी की संतान है। अमेरिकियों के फिलिपीन्स पर कब्जा करने के पहले फिलिपीन्स हिस्पानी साम्राज्य का हिस्सा रहा था और इसी कारण भले ही वहां की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा मलय मूल का है- भाषा वह संस्कृति के आधार पर वह अपने को दक्षिणी पूर्व एशिया के

फ्रांसीसी या डच अथवा बर्तानवी उपनिवेशों से अलग-थलग पाते हैं।

सातवां अध्याय एशिया का बर्लिन है जिसमें लेखक ने एक दिलचस्प रूपक बांधा है। जिस तरह बर्लिन शहर का विभाजन जर्मनी के बटवारे को यानि यूरोप के विभाजन को दर्दनाक तरीके से दर्शाता था उसी तरह जनवादी चीन और ताइवान का विभाजन दो चीनों की कहानी हमें सुनाता है। ताइवान अरसे से अमेरिका के साथ रहा है पर जब से निकसन और किसिंज़र के जमाने में महाशक्ति अमेरिका ने उदीयमान महाशक्ति चीन को गले लगाया और सुरक्षा परिषद की स्थाई सीट ताइवान को निकाल माओ के जनवादी चीन के हवाले कर दी तब से ताइवान का भरोसा अमेरिका से उठ गया है। ठण्डे दिमाग से सोचने पर यह तुलना बहुत सटीक नहीं लगती क्योंकि आज भी इस बात की संभावना कम है कि दोनों चीनों का वैसा एकीकरण संभव है जैसा जर्मनी या वियतनाम का हो चुका है।

आठवा और अंतिम अध्याय स्टेट ऑफ नेचर है जिसमें कोई खास बात नहीं कही गई है मगर कुछ चुस्त मुहावरों के जरिए किताब को एकसाथ ऐतिहासिक और समसामयिक बनाने की कसरत की गई है। कही यूनानी युद्धों के इतिहासकार थीयूसिडीस का नामोल्लेख है तो कही हिलेरी क्लिंटन की राजनैतिक महत्वकांक्षाओं का। लेखक अपनी व्यक्तिगत यात्राओं के दौरान और कानों सुनी का पुट भी देता चलता है।

उपसंहार में वॉर्नियों की झोपड़ पट्टियों के कुछ मर्मस्पर्शी चित्र हृदय द्रावक तरीक से उकरे गए हैं शायद इसलिए कि पाठक को भरोसा हो जाए कि लेखक की सहानुभूति अमीर अमेरिकियों के साथ नहीं बल्कि गरीब एशिया वासियों के साथ है। कुल मिलाकर पुस्तक दिलचस्प और पठनीय है, विचारोत्तेजक भी पर यह याद रखना जरूरी है कि यह किस मकसद से लिखी गई है? □



मणिकांत सिंह

अमिताव घोष अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त भारतीय लेखक है और एक से अधिक बार उनका नाम प्रतिष्ठित मैन बुकर पुरस्कार के लिए चर्चित हो चुका है। इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि आने वाले वर्षों में कभी उनकी दावेदारी नोबेल पुरस्कार के लिए भी गंभीरता से ली जाने लगेगी। उनके प्रशंसकों का खुद मानना है कि वह अभी भी इस सम्मान के सुयोग्य प्राप्त है। इनके उपन्यास न केवल दुनियाभर में समीक्षकों द्वारा सराहे गए हैं बल्कि असाधारण रूप से लोकप्रिय भी हुए हैं इनमें उ ग्लास पैलेस, द हंगरी टाइड और सी ऑफ पोपीस, रिबर ऑफ स्मॉक और फ्लड ऑफ फायर इस सदी के कालजयी उपन्यासों में गिने जाने लगे हैं इनको क्लासिक रचना का दर्जा मिल चुका है और घोष की तुलना एक ही सांस में 19 वीं 20 वीं सदी के महानतम उपन्यासकारों के साथ करने वालों की कमी नहीं।

अपने छात्र जीवन में घोष ने मानवशास्त्र (एन्थ्रोपोलोजी) का अध्ययन किया था और पत्रकारिता में भी वह काम कर चुके हैं। उपन्यासों के अलावा उनकी विचारोत्तेजक लेखों के कई संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं और देश के सार्वजनिक बौद्धिकों की पहली कतार में उनका स्थान सुरक्षित है।

द ग्रेट डिरेन्जमेन्टः'

क्लाइमेट चेन्ज एण्ड द अनथिंकेबल

लेखकः अमिताव घोष

भले ही अमिताव घोष मशहूर अपने कथा-साहित्य के कारण हुए हैं उनके सरोकार गल्प और निबंधों में मानव जीवन के बुनियादी संघर्ष से जुड़े रहे हैं। उनके उपन्यास पढ़ते ऐसा लगता है कि आप किसी समाजशास्त्रीय शोधकर्ता की रिसर्च का निचोड़ सरस भाषाशैली में उपहार के तौर पर प्राप्त कर रहे हैं। प्रकृति और पुरुष के जटिल रिश्तों की पड़ताल उनके उपन्यासों के पात्रों के जिंदगीनामे में अनिवार्यतः होती है। कही (जैसे हंगरी टाइड में) नदी की बाढ़ और समुद्री तटवर्ती क्षेत्र के जीवन पर ज्वार-भाटे के प्रभाव की भूमिका पृष्ठभूमि से कही ज्यादा है जैसे ही उपन्यासत्रयी में औपनिवेशिक शासनकाल में भारत से बधुवा मजूरों या दुस्साहसिक उद्यमियों का आवृजन पात्रों की जिंदगी के उतार-चढ़ाव का अभिन्न अंग है। यहां इस कथा-साहित्य का थोड़ा विस्तार से जिक्र इसलिए जरूरी है कि कुछ आलोचकों का यह मानना है कि आखिर किस जानकारी या विशेषज्ञता के आधार पर अमिताव घोष मौसम बदलाव से पैदा संकट के बारे में यह पुस्तक लिख डाली है?

हमारी समझ में इस तरह का मीन-मेख निकालना जायज नहीं क्योंकि मौसम बदलाव एक वैश्विक संकट है जिसके कारण दुनिया के सभी देशों का भविष्य ही नहीं मानवजाति का अस्तित्व निरापद नहीं रह गया। हर जिम्मेदार नागरिक के सामने इस विषय पर विचार-विर्मश की चुनौती मुंह बाए खड़ी है। इससे पहले भी

परमाणविक अप्रसार पर केन्द्रित एक छोटी सी पुस्तक घोष लिख चुके हैं जिसने भी एक गरमा-गरम सार्वजनिक बहस को जन्म दिया था। इस बारे में दोराय नहीं हो सकती कि घोष कुछ भी लिखने के पहले खासी पढ़ाई-लिखाई और निजी रिसर्च करते हैं। दिक्कत यह है कि अपनी पक्षधरता के अनुसार जिस नतीजे पर वह पहले पहुंच चुके हो उस पर सवालिया निशान लगाने वाले शोध या तर्क को वह नजरंदाज कर देते हैं। पिछली पुस्तक में और इसमें भी यह कमजोरी नजर आती है।

लंबे समय से लेखक अपना अधिकांश समय विदेश में बिताते रहे हैं और विलायत या अमेरिका के विश्वविद्यालयों में भाषण देते हैं। यह पुस्तक भी शिकागो विश्वविद्यालय में दिए चार भाषणों पर ही आधारित है। इस बात को रेखांकित करना इसलिए जरूरी है कि विदेशी विश्वविद्यालयों के श्रोताओं या विदेश में प्रकाशित लेखों और पुस्तकों के पाठकों की रूचि के अनुसार ही इस तरह की गतिविधियों को लिए विषय चुने जाते हैं और लेखक या वक्ता उनकी मानसिकता के अनुकूल ही लेखन-भाषण करता है। घोष हो या रामगुहा इसका अपवाद नहीं। स्वदेश में इनकी महानता इसी आधार पर आंकी जाती है कि इनकी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा कैसी है। इस सब का यह अर्थ न निकाला जाए कि यह पुस्तक जिसकी समीक्षा की जा रही है- महत्वपूर्ण चर्चा का विषय बनने लायक नहीं है। घोष जो भी लिखते या कहते हैं उसे आम और

खास सभी महत्वपूर्ण समझते हैं। अभी हाल में राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने घोष को राष्ट्रपति भवन में मेहमान लेखक के रूप में एक हफ्ता बिताने को आमंत्रित किया था। उनकी यह उपलब्धि सोशियल मीडिया में खासी धूम मचा चुकी है।

इस बात से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि मौसम बदलाव का विषय बेहद संवेदनशील और आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक तीनों ही दृष्टि से बेहद विस्फोटक बन चुका है। हाल ही में संपन्न पेरिस सम्मेलन में तपती धरती के कारण मौसम बदलाव के पर्यावरण पर घातक कुप्रभाव को लेकर जो समझौता हुआ है उसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनय में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर बतलाया जा रहा है। यहां यह याद दिलाने की जरूरत है कि मौसम बदलाव का विज्ञान हमेशा से विवादास्पद रहा है। कुछ दशक पहले तक इस बात को लेकर चिंता जताई जाती थी कि परमाणविक परीक्षणों के कारण हमारा ग्रह परमाणविक जाड़े की चपेट में आकर तबाह हो सकता है। कुछ समय बाद यह भविष्यवाणी गलत साबित हो गई और कार्बन प्रसरण के कारण धरती का तापमान बढ़ने वाला संकट सर्वनाशक घोषित कर दिया गया। पिछले 25 साल में वैज्ञानिक शोध के जो नतीजे सामने आए हैं उससे यह तो स्पष्ट हो चुका है कि धरती का तापमान निरंतर बढ़ रहा है और इसका सीधा संबंध बढ़े कार्बन प्रसरण से है। आज निराशावादी वैज्ञानिक शोध को सिर्फ यह कहकर खारिज नहीं किया जा सकता कि इसे तेल-लौबी के सिबलाफ खड़ी परमाणविक ऊर्जा लौबी प्रायोजित कर रही है पर तब भी यह सोचने की जरूरत है कि खतरे की घंटी बजाने वाले वैज्ञानिक शोध को सुनने के बाद किस तरह की सार्वजनिक नीतियों का प्रस्ताव हमारे सामने है। क्या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर जो संकट निवारक कदम सुझाए जा रहे हैं वह न्याय संगत है या ताकतवर देशों द्वारा दूसरों पर एक ऐसी व्यवस्था थोपने की साजिश है जो विषमता को और भी

खतरनाक ढंग से बढ़ाने वाली ही साबित हो सकती है? यह बात परमाणविक अप्रसार के बारे में जगजाहिर हो चुकी है। पेरिस सम्मेलन में भी यह बात सामने आई थी कि विकसित और संपन्न देश अपने कार्बन प्रसरण में कटौती करने को तैयार नहीं पर भारत और चीन जैसे बड़ी आबादी वाले विकासशील देशों पर यह शर्त लादना चाहते हैं कि वह अपने सकल कार्बन प्रसरण में एक निश्चित समय सीमा के भीतर कटौती करे। यदि वह ऐसा नहीं करते तो उन्हें प्रत्यक्ष या परोक्ष निषेधों-प्रतिबंधों का सामना करना पड़ सकता है। छोटे एफ्रो एशियाई देश तो जरा सा भी राजनयिक दबाव सहन नहीं कर सकते। ऐसा जान पड़ता है कि अपने पक्ष में जनमत बनाने के लिए जो सूक्ष्म प्रचार अभियान चलाया जा रहा है उसी के तहत अमिताव घोष जैसे प्रतिभाशाली लेखकों की रचनाओं का उपयोग इस घड़ी हो रहा है।

पुस्तक में 3 अध्याय हैं पहली का शीर्षक है स्टोरीज़ (कहानियां)। यह सबसे बड़ा अध्याय है 115 पृष्ठ का। दूसरा भाग हिस्ट्री (इतिहास) लगभग इसका आधा है। अंतिम अंश पॉलिटिक्स (राजनीति) का आकार भी लगभग इतना ही है। दूसरे शब्दों में पहला हिस्सा जो आत्म-कथात्मक और गल्प साहित्य की गवाही पर आधारित है इतिहास और राजनीति को संदर्भ प्रदान करता है और उसी की रोशनी में इन से प्राप्त सामग्री लेखक के तर्क को पुष्ट करती है। वैसे लेखक का मानना यह है कि इतने गंभीर मानवजाति के अस्तित्व से जुड़े सवाल की पड़ताल सिर्फ तर्क के आधार पर नहीं की जानी चाहिए। उनके अनुसार शायद हमारे (मानसिक) असंतुलन (डिरेन्जमेंट) का सबसे बड़ा कारण यही है कि हम अपने दिल की नहीं सुनते और दिमाग को जरूरत से ज्यादा अहमियत देते हैं। किताब का उपशीर्षक भी इसी नज़रिए को रेखांकित करता है जिसमें मौसम बदलाव को एक ऐसा विषय बतलाया गया है जिसके बारे में कोई सोचना नहीं चाहता।

वास्तव में मौसम बदलाव के बहाने अमिताव घोष ने इस छोटी सी पुस्तक में बहुत सारी ऐसी बातों की ओर हमारा ध्यान दिलाया है जो दार्शनिक लगभग आध्यात्मिक ही कही जा सकती हैं। पुस्तक के पहले हिस्से में लेखक ने बहुत विद्वतापूर्ण तरीके से हमारा ध्यान इस ओर दिलाया है कि आधुनिक युग के आविर्भाव के समय विज्ञान और कला के बीच कोई गहरी खाई नहीं थी और जर्मन जीनियस गेटे जैसे लोग समान रूप से कला और साहित्य के क्षेत्र में रचनात्मक और वैज्ञानिक प्रयोगशाला में सिद्धहस्त शोधकर्ता थे इनका चिंतन भौतिक और आध्यात्मिक एक साथ था। घोष हमारा ध्यान लियो टाल्सटोय के उपन्यास वॉर एण्ड पीस में गणित की जानकारी और एलिस इन वॉन्डर लैंड में आसानी से परोसे गए रसायनशास्त्र की ओर भी दिलाते हैं। इसी अध्याय में अंग्रेजी साहित्य के जानकार लोगों के मनोविनोद के लिए और भी बहुत कुछ है। जब प्रसिद्ध कवि शैली अपनी प्रेमिका के साथ स्वदेश छोड़ स्विट्ज़रलैंड में प्रवास कर रहे थे तब गरजते बादलों और कड़कती बिजली वाले एक तूफान ने उन्हें चकित-विस्मित कर दिया। इस अनुभव ने कैसे उन्हें कुछ भुतैली कहानियां लिखने को प्रेरित किया इसका उल्लेख भी किया गया है। जिन लोगों ने कभी शैली या बायरन का नाम नहीं सुना है या जो विलियम ब्लेक, वर्ड्स वर्थ और वाल्टर स्कॉट आदि से परिचित नहीं उनके लिए यह सब पगुराती भैंस के आगे बीन बजाने के समान है। इस हिस्से में हेगल और मार्क्स से लेकर हरमन मैलविल और विज्ञान कथा लेखन के सबसे बड़े नाम आर्थर क्लार्क जाने कितने जवाहराहत सरीखे नाम लुटाने वाले अंदाज में फेंके गए हैं। निश्चय ही लेखक यह आशा नहीं कर सकता कि कोई साधारण पाठक इस सामग्री का लाभ उठा सकता है या जिस तरह का सार-संक्षेप सूत्र वाक्यों में प्रस्तुत किया गया है उसका कोई सीधा नाता मौसम बदलाव के दुस्वप्न से जोड़ा

जा सकता है। यह यह हिस्सा इस मायने में जरूर चमत्कारी कहा जा सकता है कि वह लेखक की गागर में सागर भरने की प्रतिभा की अदभुत नुमाइश पेश करता है।

इसी अध्याय में एक समानांतर धारा भी प्रभावित होती है। लेखक की अपनी जीवनी के कुछ यादगार प्रसंग जिनका सीधा संबंध 'प्रकृति के कोप' और निर्मम तुनक मिजाजी से है यहां दर्ज है। जब लेखक 1978 में दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ रहा था तब एक ऐसा बवंडर आया था जिसने चंद लम्हों में मॉरिस नगर को तबाही के मंजर में बदल दिया था। मौसम विज्ञानियों का मानना है कि यह टोरेन्डो (चक्रवात) दुर्लभ अपवाद था पूरी तरह अभूतपूर्व। घोष की यह चेतावनी अनसुनी नहीं की जानी चाहिए कि अभूतपूर्व सही इस तरह की घटना के बारे में 'न भविष्यति' कहना किसी के लिए भी संभव नहीं। इसी तरह जब वह लगभग एक दशक बाद अपने पुरखों की जन्मभूमि बांग्लादेश की यात्रा के दौरान सुन्दरवन में एक तूफानी बवंडर के उत्पात का उल्लेख करते हैं तो संक्षिप्त ही सही इस घटना का वर्णन बहुत मर्मस्पर्शी लगता है।

कुछ ही पंक्तियों में समर्थ लेखक पाठक को यह समझा देता है कि प्राकृतिक शक्तियों के बारे में मनुष्य की जानकारी कितनी कम है। करीब डेढ़ सौ साल पहले आज के बांग्लादेश में पदमानदी ने अपनी धारा एकाएक बदल दी। उसके तट पर बसे छोटे-छोटे बहुत सारे गांव अचानक नष्ट हो गए। जाने कितने मरे डूबकर या बहकर और कितने बचे रहे। बचे परिवारों में एक अमिताव घोष के पुरखों का था जो शरणार्थी बन कर पश्चिमी बंगाल पहुंच गया। सुन्दरवन के साथ आज भी लेखक का एक अजीबो-गरीब रिश्ता है उसके मायावी रहस्य को वह वेध नहीं पाते और उन्हें लगता है कि सिर्फ मनुष्य ही सचेत नहीं होते पशु-पक्षी वृक्ष और वन, जलराशि और मरूस्थल सभी महसूस करते हैं। हम उनकी भाषा समझे या ना

समझे मौन भी बहुत कुछ कह जाता है। पुस्तक का यह हिस्सा अगले अध्याय की प्रस्तावना है।

इतिहास वाले हिस्से में औपनिवेशिक काल में मौसम विज्ञान विषयक जानकारी को भले ही पाठय पुस्तक की तरह से पेश नहीं किया गया है पर इसका फोकस साम्राज्यवाद के युग में एशिया और अफ्रीका के देशों में वैज्ञानिक पश्चिमी सभ्यता के प्रसार पर ही केन्द्रित है। चूंकि मूल रूप से यह पुस्तक लिखी नहीं बोली गई है अतः इसे रोचक बनाने के लिए जिन किस्से-कहानियों का समावेश किया गया है वह अक्सर ऊपर से छिड़के मिर्च-मसाले जैसी लगती है उनके निहितार्थों को स्पष्ट करने की जरूरत लेखक नहीं समझता। समय सीमा का ध्यान में रखते हुए सारसंक्षेप कहीं-कहीं अति करता नजर आता है। फिर भी दो ऐसे मुद्दे हैं जिनकी ओर अक्सर ध्यान नहीं दिया जाता। प्रकृति और मनुष्यों के रिश्तों के बारे में यूरोपीय और एशियाई सोच में बुनियादी फर्क है। इसके अलावा यहूदी-ईसाई सभ्यता के पारंपरिक मूल्यों और एशियाई सभ्यताओं के आधारभूत मूल्यों के अन्तर में भी इस चिंतन को और सामाजिक आचरण को प्रभावित किया है।

साम्राज्यवादी उपनिवेश में उन स्थानीय संस्कृतियों का हनन किया जिनको उन्होंने 'पराजित' किया था। स्वयं ईसाई धर्म के भीतर रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टैन्ट संप्रदायों के बीच सैद्धांतिक धर्मशास्त्रीय संघर्ष का उल्लेख घोष करते हैं और नैतिक तथा पारंपरिक रस्मों-रिवाज वाले आचरण पर इसके असर का जिक्र भी करते हैं पर यहां भी उनकी आंखों में चढ़ा विदेशी चश्मा उतरता नहीं। अमेरिकी उपन्यासकार जॉन अपडाइक और नीत्शे का नाम वह दोहराते हैं पर किसी प्राचीन या आधुनिक भारतीय, चीनी-जापानी दार्शनिक या लेखक को इनके समकक्ष रख बहस को संतुलित नहीं करते।

लेखक की असली चिंता मौसम बदलाव को लेकर उतनी नहीं लगती जितनी इसको लेकर कि क्यों लोग गल्प (फिक्शन अर्थात कथा साहित्य) को विज्ञान के बराबर भरोसेमंद और महत्वपूर्ण नहीं समझते। एक जगह (पृष्ठ 172-173) में वह यह बात साफ पूछते हैं- साहित्य मनुष्य जीवन के अनुभवों की सजीव साझेदारी संभव बनाता है तो फिर क्यों उसके आलोक में लोग अपना आचरण तर्कसंगत नहीं समझते? क्यों वह अपना जीवनयापन विज्ञान की खोज की तमाम अनिश्चितताओं के बावजूद वैज्ञानिकों के कहे अनुसार बेहतर समझते हैं? साहित्य की घोष की परिभाषा कहानी-उपन्यास या कविता तक सीमित नहीं वह इसमें पौराणिक आख्यान और मिथकों को भी शामिल करते हैं। पुस्तक का यह हिस्सा जो धर्म और विज्ञान और मिथक तथा विज्ञान के जटिल रिश्तों को टटोलता है गरिष्ठ तो है पर बेहद रोचक भी मगर कुल मिलाकर मुख्य विषय से हमारा ध्यान भटकाता ही है।

इन पंक्तियों के समीक्षक की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि लेखक एक वैश्विक समस्या को सिर्फ अमेरिका की एक प्रतिष्ठित यूनिवर्सिटी की दर्शकदीर्घा में बैठे श्रोताओं को ठकुर सुहाती सुनाने वाले अंदाज में ही सौन्दर्य शास्त्रीय कसौटी पर बेशक खरा उतरने वाला मौसम राग आलापता रहा है। एक छोटा सा उदाहरण यह बात प्रमाणित करने के लिए काफी रहेगा। अमिताव घोष एक जगह यह कहते हैं कि आशा की सबसे बड़ी किरण पोप का एक इनसिक्लिक्ल (फतवा सरीखा धर्मादेश) है जिसमें उन्होंने पर्यावरण के संरक्षण की चुनौती को गरीबी और सामाजिक न्याय की समस्या के साथ जोड़ा है। पृष्ठ संख्या 209 से लेकर 213 तक बड़े विस्तार से उस ईसाई प्रार्थना की व्याख्या की है जो 'लौडेटो सी' नाम से मशहूर है। उनकी समझ में दुनियाभर के रोमन कैथलिक लोगों के लिए उत्पीड़ित

गरीबों का क्रन्दन और आहत- कुपित प्रकृति का चीत्कार सुनना अब सहज होगा। लेखक यह भी जोड़ता है कि दुनिया की कुल आबादी का एक बड़ा हिस्सा डेढ़ अरब के आस-पास उन ईसाइयों का है जिनके लिए पोप ही सब कुछ है। अमिताव घोष बहुत आसानी से या बहुत चालाकी से यह बात भूल जाते हैं कि दुनिया की कुल आबादी का लगभग इतना ही बड़ा हिस्सा या शायद इससे भी बड़ा हिस्सा मुसलमानों का है। यदि इस तर्क को स्वीकार कर ले तो कट्टरपंथी मुल्लाओं या स्वयंभू खलिफाओं का ही अपना पथ-प्रदर्शक मानने वाले मुसलमानों की संख्या पोप के अनुयाइयों से कहीं अधिक निकलेगी। यूरोपीय बौद्धिक इतिहास का गहरा अध्ययन करने के बाद भी यदि नैतिक और मानवीय आचरण करने के लिए घोष को धार्मिक वह भी प्रमुखतः प्रबुद्ध ईसाई धर्म की मान्यताओं की ही बुनियाद सबसे मजबूत नज़र आती है तो आगे बात बढ़ाना बिल्कुल व्यर्थ लगता है। चीन की बात जाने दें भारतीय उपमहाद्वीप में ही सनातन हिन्दू धर्म को भी दर-किनार करे तब भी बौद्ध और जैन दर्शन में करुणा और मनुष्येतर प्राणियों में अच्छे-बुरे का बोध और चेतना का अस्तित्व सदियों से स्वीकार किया जाता रहा है। प्रकृति को निर्जीव कोई भी नहीं मानता और जो पश्चिमी वैज्ञानिक यूनानी मिथकों की गाइया माता (पृथ्वी) को अपने वैज्ञानिक विश्लेषण का प्रेरणा स्रोत समझते हैं क्यों वह धरती माता वाले भारतीय मिथक को पौराणिक अंधविश्वास का हिस्सा करार देते हैं।

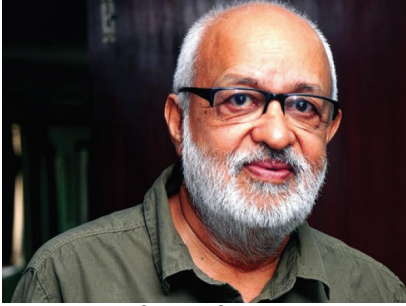
अमिताव घोष ने इस पुस्तक में एक और तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया है। उनका मानना है कि अमेरिका में सेना और रक्षा संस्थान को ही सबसे ज्यादा चिंता मौसम बदलाव को लेकर है। गैर पारंपरिक ऊर्जा स्रोतों पर केन्द्रित प्रायोजित शोध पर होने वाले खर्च का सबसे बड़ा हिस्सा सेना और रक्षामंत्रालय ही उठाते हैं। यह जानकारी कम लोगों को

है कि पैट्रॉल और दूसरे फोसिल ईंधनों का सबसे अधिक उपयोग अमेरिकी सेना ही करती है। घोष इसे 'सेकुरिटाइजेशन ऑफ क्लाइमेट चेन्ज' का नाम देते हैं अर्थात् मौसम बदलाव का सामरिकीकरण। अमेरिकियों को चिंता है कि यदि कार्बन प्रसरण के संकट के कारण फोसिल ईंधनों पर रोक लगी तो अमेरिकी सुरक्षा संकटग्रस्त हो सकती है। सतही नज़र डालने पर यह समझा जा सकता है कि घोष अमेरिकी सैनिक प्रतिष्ठान की साजिश का सनसनीखेज खुलासा कर रहे हैं। हकीकत यह है कि अमेरिका को इस बात की कोई परवाह नहीं कि मौसम बदलाव संबंधी अन्तर्राष्ट्रीय किसी भी समझौतों में इस बाबत क्या तय होता है। उसकी रणनीति और राजनय इस पर केन्द्रित है कि दूसरों के आचरण पर अंकुश लगाकर कुल वैश्विक कार्बन प्रसरण को कम किया जा सके। अतः 'जानकार' विशेषज्ञ मित्रों के साथ बातचीत को प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में पेश कर घोष राजनीतिक महत्व की किसी नई जानकारी को साझेदारी नहीं कर रहे। इतिहास और राजनीति पर उनकी टिप्पणियां विश्व साहित्य और आपबीती की खिचड़ी ही पक सकी है। दार्शनिक मुलामे की वजह से यह दुर्लभ पकवान नहीं बन सकती।

पुस्तक के अंतिम हिस्से में उपन्यासकार घोष जागरूक वैश्विक नागरिक पर हावी हो जाता है और भविष्य में प्रकृति की बदले मौसम के कारण प्रलय लीला का डरावना चित्र वह पेश करते हैं। अगर कभी मुम्बई समुद्री तूफान की चपेट में आया तो तबाही से कोई भी नहीं बचा रहेगा। न अमीर न गरीब। झोपड़ पट्टियों की झुगियों में टीन की जो चादरें छत की तरह इस्तेमाल की जाती हैं उड़कर उन गगनचुंबी महलों की बड़ी-बड़ी खिड़कियों को चकनाचूर कर देंगी जहां रहने वाले रईस अपने को आज अपने को सुरक्षित समझते हैं। समुद्र से आने वाली दैत्याकार लहरे ऐसी बाढ़ में शहर के अधिकांश हिस्से को डूबा देंगी जिसके कारण रेल

और सड़क यातायात असंभव हो जाएगा। घायलों और मरीजों को अस्पताल तक पहुंचाना नामुमकिन होगा। सबसे डरावनी बात तो यह है कि भारत का एक प्रमुख परमाणविक संयंत्र बिल्कुल समुद्र तट पर निर्मित है और इसकी बर्बादी के बाद रेडियोधर्मी विकिरण का खतरा दूरदराज के इलाके तक जानलेवा संकट पैदा कर देगा। यह डरावनी चेतावनी देने वाले घोष पहले इंसान नहीं हैं। जो लोग धारवी जैसे स्लमों में रहते हैं या दक्षिणी मुम्बई की आलिशान बस्तियों से दूर उपनगरों में रहते हैं आज भी बारिश के मौसम में नारकीय जीवन ही व्यतीत करते हैं। हर दिन दर्जनभर से ज्यादा लोग लोकल ट्रेन की धक्का-मुक्की में पट्टरी पर गिर और कट कर जान गंवाते हैं या मलिन बस्ती की गली में पानी में छुपे बिजली के तार की करंट लगने से मर जाते हैं। इन जैसे लोगों के लिए प्रकृति का तान्दव रोजमर्रा की जिंदगी की असलियत है सुदूर भविष्य की सर्वनाशक संभावना नहीं। निर्धन, लाचार व्यक्ति आज भी अपने परिवार के किसी घायल या मरीज को अस्पताल तक पहुंचाने में असमर्थ है। महानगर हो या देहात यही जिंदगी की असलियत है। विकासशील देशों की आबादी का बड़ा हिस्सा अगर आज मौसम बदलाव के कारण पैदा जोखिम के बारे में नहीं सोचता तो इसकी वजह उसका दिमाग खराब होना नहीं। जब घोष अपनी किताब का शीर्षक दि 'ग्रेट डिरेन्जमेंट' रखते हैं तब यही ध्वनि होता है कि ठीक-ठाक दिमाग वाले ऐसा नहीं कर सकते।

कुल मिलाकर एक महत्वपूर्ण विषय पर रोजचक जानकारी से भरपूर पठनीय शैली में लिखी गई यह पुस्तक सिर्फ इस कारण आम पाठक के लिए उपयोगी होने से रह गई है क्योंकि बहुविषयी विद्वता के प्रदर्शन के लोभ में लेखक मूल विषय से भटकता रहा है और धान और भूसे को अलग करने का बोझिल काम वह पाठक पर ही छोड़ देता है।



प्रो. पुष्पेश पंत

आजादी से आज तक भारत और पाकिस्तान के बीच बैर ही स्थाई भाव रहा है। दो देशों के बीच तीन बड़े युद्ध लड़े जा चुके हैं और छोटे अघोषित संघर्षों की गिनती कहीं अधिक है। सुलह के प्रयास नाकामयाब ही साबित हुए हैं और पिछले लगभग तीन दशक से भारत परदे के पीछे से पाकिस्तान से नियंत्रित-संचालित एक दहशतगर्द अभियान से लहलुहान होता रहा है। इसी कारण दक्षिण एशिया को कई सामरिक विद्वान 'संसार के सबसे संवेदनशील तथा विस्फोटक' तनावग्रस्त संकटस्थल का नाम देते हैं। ऐसे भारतीय और विदेशी विश्लेषकों की कमी नहीं जिन्होंने अपना ध्यान इन दो देशों के उभयपक्षीय संबंधों पर केंद्रित रखा है। इस बिरादरी में स्टीफेन कोहेन का नाम अग्रणी है।

अपने विद्यार्थी जीवन से मृत्यु पर्यंत कोहेन का घनिष्ठ रिश्ता भारत-पाक के साथ रहा। उनकी पहचान ऐसे असरदार अमेरिकी के रूप में थी जिनकी सहानुभूति सदा जनतांत्रिक भारत के साथ रही और जो इन दो सहोदर देशों की जटिल रिश्तेदारी को तटस्थता से समझने की कोशिश करते थे। भारत और पाकिस्तान की सेना तथा विदेशनीति और राजनय पर कोहेन ने अनेक चर्चित पुस्तकें लिखीं हैं। इसके अलावा उनके दर्जनों विचारोत्तेजक शोध पत्र तथा समय समय पर दिए सार्वजनिक भाषण चर्चित होते रहे हैं। यह पुस्तक कोहेन के चुनिंदा लेखों, भाषणों का संकलन है और इसीलिए मूल्यवान समझी जानी चाहिए यह

दि साउथ एशिया पेपर्स ए क्रिटिकल एंथोलौजी औफ राइटिंग्स

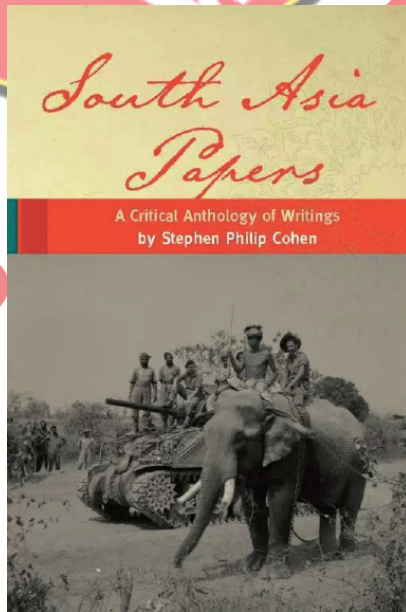
लेखक: स्टीफेन कोहेन

लगभग आधा सदी के कालखंड में एक समर्थ विद्वान के सामरिक चिंतन में परिवर्तन और निरन्तरला को यह प्रतिबिम्बित करती है।

आरंभ में कुछ बातों की ओर ध्यान दिलाना जरूरी है। कोहेन भारत के मित्र समझे जाते हैं परंतु यह सोचना नादानी होगा कि वह पाकिस्तान के आलोचक हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण इस बात को याद रखना है कि सर्वप्रथम और अंततः वह अमेरिकी नागरिक हैं और अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम को देखने परखने का उनका नजरिया अमेरिकी राष्ट्रहित को प्राथमिकता देने वाला ही रहा है। तीसरी बात इससे जुड़ी है। अमेरिका के लिए पाकिस्तान की जो सामरिक उपयोगिता शीत युद्ध के दौर में थी वह तनाव शैथिल्य के तथा शीत युद्ध की समाप्ति के बाद बरकरार नहीं रही। चीन के साथ अमेरिका के संबंधों के 'सामान्यीकरण' के बाद और सोवियत संघ के पतन के बाद यह आशा

नजर आने लगी थी कि अब उस महाशक्ति को भारत के असली वजन का अहसास होगा। यह आशा बहुत जल्दी धूमिल हो गई क्योंकि सोवियत संघ की सेनाओं को अफगानिस्तान से खदेड़ने की रणनीति ने पाकिस्तान को अचानक फिर से एक अति संवेदनशील सामरिक मोर्चे में बदल दिया। भारत-पाक संबंधों को अफगानिस्तान ने त्रिकोणीय बना दिया।

कोहेन के शोध तथा लेखन को चार प्रमुख भागों में बांटा जा सकता है। आरंभ में उनकी दिलचस्पी पाकिस्तानी और भारतीय सेना में रही, फिर उनका ध्यान पाकिस्तान में 'राज्य निर्माण' की ओर आकर्षित हुआ। नैसर्गिक नेतृत्व तथा राजनैतिक दलों, न्यायपालिका की भूमिका का भारत के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने को उन्होंने प्राथमिकता दी। जनतांत्रिक विकास के पथ पर अग्रसर भारत और सैनिक तानाशाही के आधीन पाकिस्तान के बीच बहुत कम साम्य था। बांग्लादेश के जन्म ने कुछ समय के लिए यह भ्रांति पैदा की कि पाकिस्तान का विखंडन टाला नहीं जा सकता और इस शर्मनाक हार के बाद सेना सत्ता में नहीं बनी रह सकेगी और जनता द्वारा निर्वाचित सरकार संभवतः भारत सरीखे जनतंत्र की अगुआई करेगी। पर यह अपेक्षा भी निर्मूल सिद्ध हुई। जब 1970 वाले दशक के मध्य से पाकिस्तान में जनरल जिया ने इस्लामी कट्टरपंथी को बढ़ावा दिया तब से विभाजन के पहले वाली साझे की विरासत की बात करना निरर्थक सा हो गया। दक्षिण एशिया पर पैनी नजर रखने वाले कोहेन ने इस तमाम उतार चढ़ाव के संदर्भ में अपना सामरिक शोध जारी रखा। सेना और नागरिक सत्ता के अलावा उनकी दिलचस्पी कश्मीर विवाद



और परमाणविक अस्त्रों के (अ)प्रसार में रही है। पाकिस्तानी सेना, कश्मीर, परमाणु हथियार और क्षेत्रीय शक्ति के रूप में भारत के उदय की संभावना यही चार परस्पर जुड़े विषय कोहेन के समग्र शोध तथा लेखन को दिशा देते रहे हैं।

इस पुस्तक की समीक्षा करते वक्त यह बात भुलाई नहीं जा सकती कि भले ही भारत में अमेरिकी प्रशासन की दक्षिण एशिया विषयक नीतियों को ले कर बहस गर्माती रहती है अमेरिका के लिए दक्षिण एशिया यूरोप, पश्चिम एशिया एवं पूर्वशिया के बाद ही प्राथमिकता सूची में दर्ज किया जाता रहा है। अर्थात् कोहेन की असंदिग्ध विद्वता अमेरिकी नीति निर्धारकों के लिए हाशिए पर ही रही है। वास्तव में कोहेन को भारत में कुछ ज्यादा ही असरदार-वजनदार समझा जाता रहा है क्योंकि वह भारत से अमेरिका जाने वाले फुलब्राइट शोधकर्ताओं के अभिभावक-मददगार की भूमिका असाधारण उदारता से सहर्ष निर्वाहन में रत रहे थे।

दूसरे वरिष्ठ प्रोफेसरों की तरह कोहेन भी समय समय पर सीनेट की सुनवाईयों के लिए तलब किए जाते रहे हैं और प्रशासन के मंजले पायदान पर सलाहकार की भूमिका भी निभा चुके हैं पर इससे यह नतीजा निकालना गलत होगा कि उनके शोध या लेखन ने अमेरिकी प्रशासन की दक्षिण एशिया विषयक नीतियों को प्रभावित किया है। यहां यह भी जोड़ना जरूरी है कि कोहेन का लेखन किसी मौलिक समाजशास्त्रीय स्थापना को नहीं प्रस्तुत करता न ही भारत या पाकिस्तान की राजनैतिक एवं आर्थिक प्रणाली पर नया प्रकाश डालता है। ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत के समसामयिक राजनैतिक प्रभाव का विश्लेषण तो और भी दूर की बात है। वह स्वयं इस बात को बेहिचक स्वीकार करते हैं कि शिशिर गुप्ता और मुहम्मद अय्यूब जैसे भारतीय विद्वानों से ही कश्मीर समस्या तथा भारत-पाक संबंधों के विविध आयाम समझने में उन्हें बहुत मदद मिली है। कुल मिला कर जानकार पत्रकार जैसी विचारोत्तेजक टिप्पणियां ही कोहेन को चर्चित बनाती रही हैं।

इस पुस्तक में संकलित सामग्री को समकालीन पाठक के लिए उपयोगी बनाए रखने का कुछ प्रयास तो लेखक ने किया

है परंतु पूरे मन से नहीं। जो लेख जनरल जिया के जीवनकाल में लिखे गए या जनरल मुशर्रफ के कार्यकाल में उनमें कहीं-कहीं ही संशोधन किया गया है। इनको पढ़ते यह महसूस होता है कि कैसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में दूरदर्शी भविष्यवाणी करना अक्लमंदी नहीं समझा जा सकता। इस संकट से बचने के लिए 'अगर-मगर' के साथ शोध के निष्कर्ष को 'वैज्ञानिक' अंदाज में प्रकाशित करने के बाद उसमें कुछ बचा नहीं रह जाता।

हमारी समझ में कोहेन के लेखन की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि नेहरू और इंदिरा गांधी के काल में सबसे अधिक सक्रिय इस अमेरिकी शोधकर्ता के लिए राजीव गांधी के बाद के भारत और जिया के बाद वाले पाकिस्तान को पहचानना कठिन होता रहा है। अपने को भारत तथा पाकिस्तान का मित्र समझने वाले इस विद्वानके लिए इस कड़वे सच को कबूल करना भी असंभव रहा है कि कैसे अमेरिकी नीतियों ने ही भारत-पाक संबंधों में जहर घोला है और इनमें सुधार को असंभव बनाया है।

लेखक ने बहुत संक्षेप में उस ब्लड टिलीग्राम का जिक्र तो किया है को 1970-71 में ढाका में तैनात अमेरिकी कौन्सल ने स्टेट डिपार्टमेंट को इस बारे में सतर्क करने को भेजा था कि पाकिस्तानी फौज किस भीषण वंशनाशक नरसंहार को अंजाम दे रही थी। निक्सन हिंस्र की खलनाय की जोड़ी ने अपनी अतियथार्थवादी अदूरदर्शिता के कारण अनदेखा कर दिया था। तब से आज तक

इस जमीनी हकीकत में रती भर फर्क नहीं पड़ा है। वह भारत-पाक रिश्ते के उभयपक्षी आयाम को तो विश्लेषित करते हैं पर झगड़े की जड़ को सींचने वाले अमेरिका की ऐतिहासिक निर्णायक भूमिका को निरंतर नजरंदाज करते हैं।

पाकिस्तान में अगर फौज ने जनतंत्र का गला घोटने में कामयाबी हासिल की है तो इसमें अमेरिका ने सहर्ष हाथ बंटया है। एक्यू खान की परमाणविक तस्करी के लिए चीन को गुनहगार ठहराना सहज है पर क्या इस बात को नकारा जा सकता है कि कोहेन के देश ने इस अंतर्राष्ट्रीय अपराध की तरफ अपनी आंखें मूंदी रखी थीं। जिस दहशत गर्दी का लावा आज पाकिस्तान से बह कर भारत में आ रहा है उसको खौला कर विस्फोटक बनाने का काम भी अमेरिकी खुफिया एजेंसी सीआइए ने ही साधा था।

जब तक ओसामा बिन लादेन के आदेश पर अल कायदा ने अमेरिका पर हमला नहीं किया था तब तक अमेरिका को इस बात की परवाह नहीं थी कि पाकिस्तानी तालिबान का उपयोग भारत के खिलाफ एक हथियार के रूप में कर सकते हैं-कर रहे हैं। एक के बाद एक अमेरिकी प्रशासन भारत को पाकिस्तान के बाबत धीरज धरने की सलाह देते रहे हैं। 9/11 ने दुनिया को नाटकीय तरीके से बदल डाला है। इसी कारण इस पुस्तक में संकलित 16 लेखों में से कुल दो चार ही आज उपयोगी समझे जा सकते हैं। जिया या मुशर्रफ के शासनकाल



पुस्तक समीक्षा

में पाकिस्तान की चर्चा आज पौराणिक ही लगती है। बेनजीर भुट्टो की वापसी, हत्या और न्यायपालिका के साथ नवाज शरीफ की रस्साकशी के बखान का भी कोई तुक नहीं।

जहां तक अमेरिकी राष्ट्रहित का सवाल है उनके संदर्भ में गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र बहुत पहले ही ईराक तथा सीरिया की तरफ मुड़ चुका है। जिस सत्ता परिवर्तन के सिद्धांत का प्रतिपादन कर अमेरिका ने पश्चिम एशिया को तबाह किया है उसको पाकिस्तान पर लागू करने में उसकी कोई उत्सुकता नहीं। इस बात को याद रखना जरूरी है क्योंकि जब कोहेन 'काश्मीर में आगे की राह' को टटोलते हैं या भारत अमेरिका के बीच सामरिक साझेदारी की संभावना को परखते हैं तब वह निर्ममता के साथ इन मुद्दों से मुकाबला नहीं करते नजर आते।

यूपीए-1 एवं यूपीए-2 के राज में अमेरिका के साथ भारत के रिश्तों में अप्रत्याशित आशातीत सुधार हुआ। परमाणविक ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग वाले करार पर हस्ताक्षर के बाद तो यह लगने लगा था कि आखिर अमेरिका ने दक्षिण एशिया में पुराने संधिमित्र को तज नया सहयोगी चुन लिया है। इस भरम को टूटने में एक साल भी नहीं लगा।

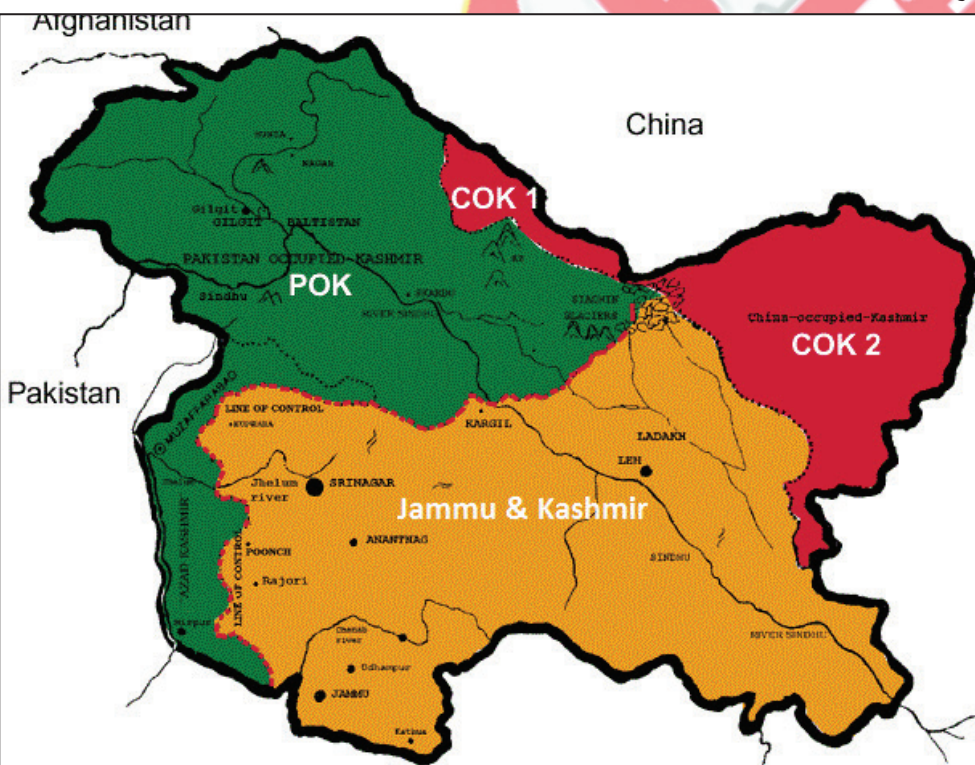
किसी भी पाठक के मन में यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि पुस्तक का शीर्षक 'साउथ एशिया पेपर्स' क्यों रखा गया है? पुस्तक की लगभग पूरी सामग्री भारत-पाक संबंधों पर ही केन्द्रित है। बांग्लादेश का उल्लेख मात्र पाकिस्तान के (1971 वाले विखंडन वाले) संदर्भ में ही हुआ है। यह सोचना या सुझाना नादानी है कि भारत और बांग्लादेश के रिश्ते पाकिस्तान की चुनौती के ही मुद्दे नजर संचालित होते हैं। 'पूरब की और देखो' वाली जिस नीति का सूत्रपात नरसिंह राव ने किया था उसको कोहेन अहम दिशा परिवर्तन नहीं समझते। नदी जल विवाद हो या नाजायज घुसपैठिये शरणार्थियों से जुड़ा विवाद बांग्लादेश की सामरिक संवेदनशीलता अपनी जगह कमतर नहीं।

चीन द्वारा भारत की घेराबंदी का जो व्यूह चीन रचने की कोशिश कर रहा है उसकी वजह से भी बांग्लादेश हमारे लिए महत्वपूर्ण है। ऐसी ही उपेक्षा नेपाल और श्रीलंका की भी नजर आती है। डेढ दशक तक चले गृहयुद्ध के बाद नेपाल में माओवादियों ने जनतांत्रिक चुनावी प्रक्रिया में भाग लेने का फैसला किया और सरकार बनाई। भले ही इसके बाद उस भूमिबद्ध देश में राजनैतिक स्थिरता नहीं स्थापित हो सकी है जो कुछ

बदलाव हुआ है उसे कतई नजरंदाज नहीं किया जा सकता।

राजशाही का उन्मूलन तथा संविधान निर्माण में विलंब के कारण भारत के साथ संबंधों में उतार चढ़ाव दक्षिण एशिया में सहयोगात्मक कार्यों के मार्ग में बाधक बने हैं। बांग्लादेश और नेपाल दोनों ही देशों में भारत की असमंजस को पाकिस्तान तथा चीन अपने हित में समझते हैं। यदि भारत के पाकिस्तान के साथ परस्पर विश्वास बढ़ाने वाले इकतरफा प्रयास लगातार असफल होते रहे हैं तो उसका बड़ा कारण दक्षिण एशियाई सामरिक-राजनयिक परिदृश्य का परिवर्तित होना है। यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोहेन के लिए दक्षिण एशिया भारत-अफ-पाक तक सीमित है। स्पष्ट है कि उदार और भारत के प्रति सहानुभूति रखने वाले इस विद्वान के लिए भी दक्षिण एशिया की परिभाषा अमेरिकी विदेश और रक्षा मंत्रालयों की शीत युद्ध कालीन मानसिकता और सोवियत संघ की घेराबंदी के दबाव वाली ही है।

पुस्तक का बहुत बड़ा हिस्सा काश्मीर समस्या की गुत्थी सुलझाने को समर्पित है। इस सिलसिले में फिर एक बार यह रेखांकित करने की जरूरत है कि देश के विभाजन से आज तक लगातार पाकिस्तान को अमेरिका से प्रत्यक्ष या परोक्ष राजनयिक समर्थन मिलता रहा है। यदि भारत सुरक्षा परिषद में अपने राष्ट्रहित को निरापद रख सका है तो इसके लिए भारत के पक्ष में सोवियत संघ के वीटो का इस्तेमाल निर्णायक भूमिका निभाता रहा है। इसी तरह 1971 में बांग्लादेश के मुक्ति संघर्ष में भारतीय हस्तक्षेप की कल्पना भारत सोवियत मैत्री संधि के अभाव में नहीं की जा सकती। दूसरे शब्दों में लगभग पचास साठ साल से दक्षिण एशिया में सोवियत रूस की मौजूदगी पाकिस्तान को दी जा रही अमेरिकी सैनिक तथा आर्थिक सहायता से उत्पन्न असंतुलन को व्यवस्थित करती रही है। पुतिन के राष्ट्रपति बनने के साथ स्थिति बहुत तेजी से बदली है। अराजकता, सामाजिक उथल पुथल तथा आर्थिक संकट के सन्निपात ने रूस को दक्षिण एशिया से मुंह मोड़ने को मजबूर किया है। पुतिनकालीन रूस क्रमशः यूरोप की तरफ रुखकर राजनय को संचालित करता रहा है। दूसरी ओर अपने धुर पूरब में



स्थित ऊर्जा संसाधनों के दोहन के लिए रूस चीन तथा जापान को यूरोप के विकल्प के रूप में सहायक-ग्राहक समझता है। बहुत थोड़े समय के लिए ही भारत की उपयोगिता साइबेरिया में तेल गैस शोध के लिए या रूसी सैनिक साज सामान के खरीददार के रूप में उभरी थी। दक्षिण एशिया तो दूर की बात है पाकिस्तान और अफगानिस्तान के सीमित संदर्भ में भी लेखक द्वारा रूस की अनदेखी समझ में नहीं आती।

अगर आज दक्षिण एशिया कट्टरपंथी इस्लामी दहशतगर्दी की चपेट में है तो इसके लिए अफगानिस्तान तथा ईराक और सीरिया में सत्ता परिवर्तन वाली अमेरिकी नीतियां ही बुनियादी तौर पर जिम्मेदार समझी जानी चाहिए। पश्चिम एशिया में सउदी अरब का आंख मूंद कर (तेल की राजनीति के कारण) समर्थन हो या आज भी पुतिन के जुझारू तेवरों से आशंकित अमेरिका का अफगानिस्तान-पाकिस्तान मोर्चे को अति संवेदनशील समझना इन सभी ने भारत-पाक संबंधों को बहुपक्षीय समस्या में बदल दिया है। भले ही काश्मीर विवाद का समाधान अंतर्राष्ट्रीयकरण से असंभव हो, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि दक्षिण एशिया के भविष्य को भारत-पाक रिश्तों तक सीमित नहीं किया जा सकता।

कोहेन की निजी विशेषज्ञता भारत-पाक सामरिक-राजनयिक मुद्दों वाली है अतः यह स्वाभाविक है कि वह घुमा फिरा कर इन्हीं के इर्द गिर्द मंडराते हैं। उनके लिए दशकों तक जारी श्रीलंका का रक्तरीजित गृहयुद्ध नेपाल में किसी नगण्य विषयांतर ही बना रहता है जिसका उल्लेख साउथ एशियन पेपर्स जरूरी नहीं। यह जोड़ने की जरूरत नहीं कि श्रीलंका की घटनाओं से भारत अछूता नहीं। वहां मानवीय आधार पर आइपीकेएफ वाला हस्तक्षेप, फिर सैनिकों की वापसी तथा राजीव गांधी की लिट्टे समर्थकों द्वारा हत्या ने निश्चय ही दक्षिण एशिया और भारत-पाक संबंधों को प्रभावित किया है।

सार्क के सदस्य देशों में आज अफगानिस्तान और म्यांमार भी शामिल हैं। मालदीव तथा भूटान की याद कम लोगों को आती है। बहरहाल भारत हो या पाकिस्तान दोनों का ही प्रयास यह रहा है कि कश्मीर

हो या और कोई विवाद दक्षिण एशिया का अन्य पड़ोसियों को अपने पक्ष में खड़ा किया जा सके। भारत बांग्लादेश का समर्थन हासिल करने में जुटा रहता है तो पाकिस्तान चीन की मदद से नेपाल को भारत से विमुख करने के अभियान में बड़ी हद तक सफल नजर आता है। छोटे से मालदीव के इस्लामीकरण को पाकिस्तान अपने राष्ट्रहित में मानता है तो भारत का सोचना है कि ईरान के साथ सांस्कृतिक-आर्थिक संबंधों को पुनर्जीवित कर वह पाकिस्तान में चीनी मौजूदगी का तोड़ डूब सकता है। सार संक्षेप यह है कि भारत और पाकिस्तान के उभयपक्षी संबंधों के संदर्भ में भी इस क्षेत्र के अन्य देशों की अनदेखी नहीं की जा सकती और न ही बड़ी बाहरी ताकतों के हस्तक्षेप की। चीन की चर्चा भारत-पाक वैमनस्य के सिलसिले में कोहेन ने किया है पर रूस और अमेरिका की प्रतिस्पर्धा से वह कतराते रहे हैं।

अंत में कोहेन यह आशा मुखर करते हैं कि जब भारत और पाक संक्षेपाक्षरों वाले राजनय से छुटकारा पाने की कोशिश करेंगे तभी गतिरोध तोड़ा जा सकेगा। यह संक्षेपाक्षर हैं सीआइए, आइएसआइएस तथा रौ, एनएसए वगैरह। हमारी समझ में यह सुझाने की भी जरूरत है कि ट्रैक टू, ट्रैक थ्री वाले सरकार द्वारा प्रायोजित गैर सरकारी राजनय की मरीचिका से भी मुक्त होने की जरूरत है। सीबीएम (कॉफिडेस बिल्डिंग मैजर्स- परस्पर भरोसा बढ़ाने वाले प्रयास) की कलाई भी खुल चुकी है। परमाणविक अप्रसार हो अथवा जिहादी दहशतगर्दी यह समस्याएं सिर्फ दक्षिण एशिया की नहीं। आज से आधा सदी से भी अधिक वर्ष पहले जब स्टीफन कोहेन ने अपना शोध कार्य आरंभ किया था तब से दक्षिण एशिया और दुनिया बहुत बदल चुके हैं।

यह जगजाहिर है कि पाकिस्तान राष्ट्र राज्य के रूप में असफल है। वह सिर्फ अमेरिकी और चीनी बैसाखियों पर लड़खड़ाता खड़ा है। इस बारे में भी दो राय नहीं हो सकती कि परमाणविक अस्त्रों के 'विस्फोटक' दक्षिण एशिया में प्रसार के बारे में अमेरिकी चिंताएं निराधार हैं। भारत तथा पाक दोनों ही एटमी हथियारों से लैस होने के बाद कारगिल का पारंपरिक-सीमित युद्ध लड़ चुके हैं।

बहरहाल यह पुस्तक इस धारणा को ही पुष्ट करती है कि कैसे अपने शोध और अध्ययन के क्षेत्र को ही राजनय और सामरिक रणनीति की धुरी मानने वाले विद्वान अकसर अपना दृष्टिकोण इतना संकुचित कर लेते हैं कि वास्तव में जो परिवर्तन घटनाक्रम को प्रभावित कर रहे हैं वह अनछुए रह जाते हैं। अपने पुराने 'प्रसिद्ध' शोध के नतीजों को खारिज करने में भी वह संकोचग्रस्त नजर आते हैं। इस पुस्तक की सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि बरसों पहले लिखे गए लेखों, दिए भाषणों को नाम मात्र के लिए संशोधित कर प्रकाशित कराने का लोभ संवरण नहीं किया गया है। इनसे किसी भी नयी अंतर्दृष्टि की आशा व्यर्थ है।

मसलन यह कहना आसान है कि पाकिस्तान में असली सत्ता सेना के हाथ में है या पाकिस्तान धर्म के आधार पर गठित कृत्रिम राष्ट्र राज्य है जिसकी अस्मिता हमेशा संकटग्रस्त रही है। कहीं अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह हैं कि जिया के बाद के वर्षों में पाकिस्तानी सेना का स्वरूप और संस्कार कितना और किस तरह बदले हैं? पाकिस्तान की राजनीति ही में नहीं सामाजिक जीवन को तालिबानी इस्लामी कट्टरपंथी ने कैसे प्रभावित किया है? पाकिस्तानी पंजाब और सिंध के बीच कैसे रिश्ते हैं? बलूचिस्तान में अलगाववादी हिंसा या पखून प्रदेश में असंतोष के क्या दूरगामी प्रभाव हो सकते हैं? क्या अफगानिस्तान की अस्थिरता जनित संकट से पाकिस्तान कभी मुक्त हो सकता है? नशीले पदार्थों की तस्करी हो या हथियारों का वह व्यापार जिससे संगठित अपराधी राजनीति में बेहद असरदार होते जा रहे हैं क्या कभी खत्म किए जा सकते हैं? जब तक इन सवालियों के जबाब नहीं ढूंढे जाते तब तक भारत-पाक संबंधों को न तो कोई संक्षेपाक्षर वाला मंत्र सुधार सकता है और नही दक्षिण एशियाई क्षेत्र अपनी अलग सहकारी पहचान बना सकता है।

यह बात निःसंकोच कही जाने की जरूरत है कि आकर्षक मुलाम्मे के बावजूद लेखक की छवि शीतयुद्ध कालीन भीष्म पितामह की ही नजर आती है जो धर्म और नीति के अद्वितीय ज्ञाता होने पर भी अन्याय और अधर्म के सामने विवश हैं।



मणिकांत सिंह

समुद्र मंथन का मिथक भारतीय सांस्कृतिक विरासत का एक अभिन्न, बहुमूल्य हिस्सा है। पूजा-उपासना के संदर्भ में ही नहीं, साहित्य और कला संगीत और नृत्य, चित्रकला आदि में जाने कितनी मौलिक कलाकृतियां इस प्रसंग ने प्रेरित की हैं। संजीव सान्याल की पुस्तक का शीर्षक ही अपने आप में बेहद विचारोत्तेजक और मर्मस्पर्शी है। ऐसा नहीं कि इसके पहले किसी ने हिन्द महासागर को लेकर कोई महत्वपूर्ण पुस्तक नहीं लिखी। आजादी के पहले ही प्रसिद्ध इतिहासकार और राजनयिक सरदार के.एम पाणिकर ने हिन्द महासागर का एक व्यापक फलक वाला इतिहास लिखा था। जिसने भारत के पहले प्रधानमंत्री नेहरू को प्रभावित किया था और जिसके बाद राजनयिक के रूप में चीन वाली जिम्मेदारी उन्हें सौंपी गई थी। वहां क्या गलत या सही हुआ इसका चर्चा यहां जरूरी नहीं। इसके अलावा और बहुत सारे विद्वानों ने भी हिन्द महासागर को अपने विशेषज्ञ अध्ययन का विषय चुना है पर अधिकांश की रुचि भू-राजनैतिक रही है और जिस काल अवधि को उन्होंने खासतौर पर देखा परखा है वह इस क्षेत्र में यूरोपीय उपनिवेशवादियों के आने के बाद वाली चार-पांच सदियों ही है।

खुद पाणिकर की दूसरी पुस्तक का शीर्षक है एशिया अन्डर वेस्टन डॉमिनेन्ट्स जो वास्तव में हिन्द महासागर की परिधि पर बसे देशों या इस सागर के वक्षस्थल पर स्थित द्वीप समूहों का औपनिवेशिक का ही अनुभव है। बाकी कुछ हिन्दुस्तानी विद्वानों

द ओशन ऑफ चर्न

हाऊ द इंडियन ओशन शेव्ड हूमन हिस्ट्री

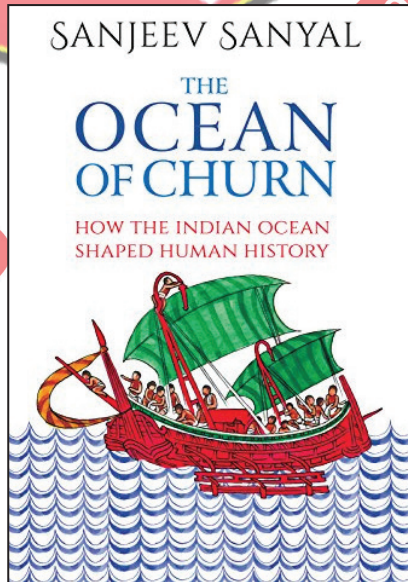
लेखक: संजीव सान्याल

ने भी इसी काल में इसी जलराशि और भू-भाग का बहुआयामी इतिहास लिखने की कोशिश की है जिनमें संजय सुब्रह्मण्यम की वास्को डिगामा की जीवनी दुनियाभर में मशहूर है। प्रोफेसर आर.टी. आनंद जैसे लेखको ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की नज़र से बड़ा काम किया है। आजकल साउथ चाइना सी पर चीन के दावे ने हिन्द महासागर को एकबार फिर चर्चा का विषय मान लिया है। इसलिए इस पुस्तक में कई ऐसे पाठकों रुचि जगी है जो सोच रहे हैं कि समसामयिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के बारे में कोई नया खुलासा इस किताब में उनके हाथ लग जाएगा। असली बात यह है कि यह बेहद सरस और रोचक शैली में लिखी पुस्तक बहुमूल्य जानकारियों का ऐसा खजाना है जिसका उपयोग कोई भी पाठक अपने काम के लिए 'मौकापरस्त' तरीक से कर सकता है। इस किताब की सामग्री का उपयोग विश्व इतिहास के विद्यार्थी तो बखूबी कर सकते

हैं अर्थशास्त्र के छात्रों को लिए भी बहुत कुछ सोचने विचारने के लिए 'कच्चा माल' हाथ लगेगा।

संजीव सान्याल पेशेवर इतिहासकार नहीं है और नहीं ऐसे पत्रकार है जिनकी विशेषज्ञता महासागरीय विषयों से जुड़ी है। उनकी शिक्षा-दीक्षा मुख्यतः अर्थशास्त्र के छात्र के रूप में दिल्ली विश्वविद्यालय तथा ऑक्फोर्ड विश्वविद्यालय में हुई है। उन्हें एक प्रतिष्ठित छात्रवृत्तियां मिल चुकी है—वह ऑक्फोर्ड तथा सिंगापुर विश्वविद्यालय में अतिथि अध्यापन भी कर चुके हैं। अर्थशास्त्री के रूप में वह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुके हैं उनकी अपनी विशेषज्ञता का क्षेत्र महानगरीय सैद्धांतिक अध्ययन है। इतिहास और भूगोल में उनकी गहरी रुचि है और जिन अनेक स्थानों का जिक्र इस पुस्तक में हुआ है लगभग सभी की यात्रा कर चुके हैं। भले ही वह इतिहास के छात्र ना रहे हो उन्हें न केवल ऐतिहासिक तथ्यों की पूरी जानकारी है बल्कि वह आधुनिकतम शोध और इतिहास दर्शन से भी (फिलॉसफी ऑफ हिस्ट्री) से भी अपरिचित नहीं।

इस किताब की तुलना भूमध्य महासागर पर वर्षों के अध्ययन-मनन के बाद लिखी फ्रांसीसी इतिहासकार चार्ल्स ब्रौडेल की किताब से की जा सकती है। यों तो ब्रौडेल ने भूमध्य सागर का एक बेहद इतिहास तीन खण्डों में हजार पृष्ठ से ज्यादा आकार का लिखा है पर उनकी जो किताब इस तरह की है वह भूगोल, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के उपलब्ध शोध को मथकर मक्खन के रूप में परोसने वाली है। इस अर्थ में भी इस किताब का शीर्षक बहुत सटीक है कि समुद्र मंथन की तरह ही दूध भी मथने पर ही मलाई और मक्खन हमें



सुलभ कराता है। इन पंक्तियों की लेखक की राय में यदि इस पुस्तक का पूरा फायदा उन पाठकों को उठाना है जो किसी प्रतियोगी परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे हैं तो इसे बार-बार 'मथने' अर्थात् पढ़ने की मेहनत करनी ही होगी।

पुस्तक में कुल 11 अध्याय हैं- भूमिका वाला अध्याय छोटा सा है पर शायद सबसे महत्वपूर्ण है। यह जरूरी नहीं कि आप बाकी सारे अध्याय सिलसिलेवार पढ़ें बल्कि हमारी राय तो यह है कि दूसरा अध्याय सबसे अंत में ही पढ़ा जाना चाहिए क्योंकि वह जैनेटिक्स और आईसएज (हिमयुग) वाली गरिष्ठ आधुनिकतम वैज्ञानिक शोध की जानकारीयों से भरपूर है और सामान्य पाठक से कुछ सामान्य ज्ञान की मांग करता है। मगर यदि यह श्रम पाठक करे तो उसके वैज्ञानिक सामान्य ज्ञान का रिविज़न अनायास हो जाता है।

अबतक इस पुस्तक की जितनी भी समीक्षाएं हुई हैं- चौथे अध्याय को ही सबसे अधिक तूल दिया गया है। इसका शीर्षक है खारवेलस रिवेन्ज अर्थात् खारवेल का प्रतिशोध। खारवेल कलिंग का शासक था जिसने अशोक के हाथों अपने पुरखों की हार का जबर्दस्त बदला लिया था। लेखक का मानना है कि खारवेल ने ही मौर्य साम्राज्य की रीढ़ तोड़ी और अशोक के उत्तराधिकारियों के लिए साम्राज्य का बनाये रखना असंभव हो गया। इससे भी ज्यादा विवादास्पद निष्कर्ष यह निकाला गया है कि वास्तव में अशोक उतना महान नहीं था जितना उसे अबतक इतिहास की पुस्तकों में बताया जाता रहा है। लेखक के अनुसार अशोक एक बिगडेल शहजादा और क्रूर व्यक्ति था जो अपने स्वयं से अधिक योग्य भाइयों की हत्या के बाद ही पाटलीपुत्र के सिंहासन पर बैठ सका था। संजीव सान्याल ने यह प्रमाणित करने की कोशिश की है कि अशोक का हृदय परिवर्तन कलिंग के भीषण नरसंहार और रक्तपात के बाद नहीं हुआ था बल्कि उसने बौद्ध धर्म कलिंग अभियान के दो वर्ष पहले ही अपना लिया था। हमारे लिए यह याद रखना बहुत जरूरी है कि अशोक को मौर्य साम्राज्य के पतन के लिए जिम्मेदार ठहराने वाले इतिहासकार पहले भी हो चुके हैं। दो पीढ़ी पहले तक यह समझा जाता था कि

बौद्ध धर्म की अहिंसा के कारण ही मौर्य साम्राज्य सैनिक रूप से कमज़ोर हुआ था। मगर जब से कोई 50 साल पहले रोमिला थापर ने अशोक एण्ड दि डिक्लाइन ऑफ दि मौर्याज़ नामक पुस्तक का प्रकाशन करवाया था तब से मत का समर्थन करने वाले तेजी से कम हुए हैं। रोमिला थापर ने यह बात अकाट्य प्रमाणों से अच्छी तरह स्थापित कर दी है कि कलिंग के अभियान के बाद भी मौर्य सेना में कटौती नहीं की गई थी और राज्य के शत्रुओं के दमन के लिए अशोक बेहिचक बलप्रयोग करता रहा था।

रोमिला के अनुसार मौर्य साम्राज्य के विखण्डन का असली कारण समुचित टकनौलॉजी के अभाव में दैत्याकार विस्तार था जिसे ईसा के जन्म से कई सदी पहले किसी दूरस्थ राजधानी से अनुशासित करना संभव नहीं था। बौद्ध शासक के विरुद्ध, ब्राह्मणों, जैनों या आजीविकों के विद्रोह की बात भी बहुत तर्कसंगत नहीं लगती क्योंकि यह सब खुद कुल आबादी का अल्पसंख्यक हिस्सा रहे हैं। मगर जो असली बात विवादास्पद है वह यह कि क्या आजादी के बाद के वर्षों में भारतीय इतिहास लेखन में जानबूझकर अशोक को महान घोषित करने की होड़ लगी रही है ताकि अहिंसक अशोक की परंपरा में अशोक जैसे अहिंसक पराक्रमी

शासक जवाहरलाल नेहरू की महानता का स्वाभाविक महिमामंडन सहज हो जाए? लेखक ने अपनी कलम को हिन्द महासागर तक ही सीमित रखा है अतः उन्होंने अकबर महान का जिक्र इस सिलसिले में नहीं किया है। पर पाठक के मन में यह सवाल बवंडर मचाए बिना नहीं रह सकता। यदि अशोक वास्तव में महान नहीं था और इसका कद तटस्थता के साथ छोटा करने की जरूरत है तो क्या यही चुनौती अकबर के बारे में भी लागू नहीं होती?

कलिंग का जिक्र एक और संदर्भ में भी महत्वपूर्ण है। यों तो हिन्दुस्तान का नाम हिन्द महासागर के साथ ही गुथा है पर भारतीय उपमहाद्वीप के तटवर्ती क्षेत्रों का ही आत्मीय संबंध हिन्द महासागर से रहा है और इन्हीं की भूमिका इस समुद्र मंथन में अगर निर्णायक न सही तो काफी असरदार समझी जा सकती है। किसी भी चक्रवर्ती सम्राट 'सेतुपर्यत' अपने साम्राज्य का विस्तार परमावश्यक समझा जाता रहा है पर ऐसे बहुत कम शासक हुए हैं जिन्होंने वास्तव में उत्तर में हिमालय की तलहटी, या गंगा-जमुना के दोआब से लेकर अरब सागर या बंगाल की खाड़ी तक भी राज किया हो। कन्याकुमारी के आस-पास असली हिन्द महासागर तक पहुंचने वाले तो और भी कम



पुस्तक समीक्षा

है। स्वयं मुगलेआजम अकबर की सल्तनत की सीमा दक्खन के पठार तक ही सीमित रही थी। आज भी उत्तर में इतिहास के विद्यार्थी नीलकण्ठ शास्त्री के लिखे दक्षिण भारत के इतिहास से अपरिचित ही हैं जिसमें उन्होंने पल्लव, चोल, पाण्ड्य और चालुक्य राजवंशों की उपलब्धियों का विस्तार से वर्णन किया है। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जो दक्षिण भारत के मंदिरों के गगनचुम्बी गोपुरम देखकर मंत्रमुग्ध न रह जाता हो। पर ऐसे लोग एक हाथ की अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं जिन्हें इस बात की जानकारी है कि ईसा के जन्म के आस-पास दक्षिण भारतीय नाविक बेड़े दक्षिण-पूर्व एशिया तक पहुंच चुके थे और उन्होंने वियतनाम, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, इंडोनेशिया और म्यांमार में हिन्दू-बौद्ध राज्यों की स्थापना की थी। इस सांस्कृतिक आदान-प्रदान की छाप आज भी इन राज्यों के जीवन में स्पष्ट देखने को मिलती है। यह साहसिक व्यापारी और सैनिक सिर्फ तमिलनाडु से ही सागर पार नहीं गए थे। तत्कालीन कलिंग हो या फिर आज का उड़ीसा यहां के निवासी भी सिंहलद्वीप (आज का श्रीलंका) और अन्यत्र पहुंचे थे। जातक कथाओं में इस बात का वर्णन मिलता है कि यह सारे अभियान ईसा के जन्म के पहले संपन्न हो चुके थे।

संजीव सान्याल अपनी नई पुस्तक में भले ही अशोक के पैर कतरने में सफल हो सकते हैं पर इस बात को नकारा नहीं

जा सकता कि अशोक जैसे क्रूर शासकों के राजकाल में भारत का नाता हिन्द महासागर के साथ जुड़ चुका था और पीढ़ी दर पीढ़ी मजबूत होता रहा। भारत का एक तटवर्ती इलाका बंगाल की खाड़ी की तरफ मुंह किए है तो दूसरी ओर वाला भू-भाग अरब सागर की तरफ खुलता है। कुलमिलाकर यह कहा जा सकता है कि जितना आत्मीय नाता भारत का हिन्द महासागर के साथ है उतना शायद एक इन्डोनेशिया के अपवाद को छोड़कर किसी और का नहीं। 1965 में जब एक बार भारत और पाकिस्तान के संबंध तनावग्रस्त हुए थे और भारत के पारंपरिक बैरी चीन का प्रभाव इन्डोनेशिया पर था तब एक बार इन्डोनेशिया के हुक्मरानों ने हिन्द महासागर का नाम बदलकर इन्डोनेशियाई महासागर रख दिया था। उस समय पीकिंग जकर्ता पिन्डी धुरी काम कर रही थी। पर तब भी यह साजिश कामयाब नहीं हो सकी।

शीत युद्ध के युग में हिन्द महासागर का सामरिक महत्व अचानक बढ़ गया था। कई दशक चले वियतनामी मुक्ति संग्राम के कारण अमेरिकियों की यह मजबूरी थी कि वह हिन्द महासागर में वायु सैनिक और नौ सैनिक अड्डों को अपने नियंत्रण में रखे इसीलिए दियोगोकारसिया से लेकर फिलिपीन्स तक को संवेदनशील समझा गया। यहां इस बात को रेखांकित करने की जरूरत है कि उस वक्त साम्यवादी खेमे में सोवियत संघ हो या माओवादी चीन इनकी पहुंच बारह मास 'गरम जल' तक नहीं थी। रूस हो या चीन इनके लिए अपने सहयोगी संधि मित्रों के जरिए फारस की खाड़ी अथवा भूमध्य सागर या हिन्द महासागर तक पहुंचना परमावश्यक था। ईरान-तुर्की और खाड़ी देशों की सामरिक उपयोगिता इसीलिए बढ़ गई।

इस किताब का सबसे रोचक और महत्वपूर्ण हिस्सा वह है (जिसका समावेश लगभग हर अध्याय है) जिसमें समसामयिक घटनाक्रम को समझने के लिए अन्तर आन्तरविषयक (इंटर डिसेप्टिवलरी) जानकारी का उपयोग किया गया है। हिन्द महासागर की जन्म की कहानी बताने के लिए भूगोल और भूगर्भशास्त्र के सबक अनायास दोहराये गए हैं तो हिन्द महासागर में

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की ऐतिहासिक विरासत के सिलसिले में सिर्फ दक्षिण - पूर्व एशिया या मध्य एशिया तक ही अपनी दृष्टि नहीं दौड़ाई गई है। पुस्तक के पांचवें अध्याय में जिसका शीर्षक कोनडीन्य की शादी है। भारत और रोम के बीच एलकजेन्डीय के बंदरगाह के जरिए आदान-प्रदान की बात कही गई है जिसे अक्सर लोग भुला देते हैं।

इसी तरह छठा अध्याय न केवल दिलचस्प मगर बहुत उपयोगी भी है। इसका शीर्षक है एरेबीयन नाइट्स नाइट शब्द में श्लेष अलंकार का प्रयोग किया गया है। अंग्रेजी में नाइट शब्द उच्चारण के अनुसार दो अर्थ वाला है। एक मायने में पराक्रमी सूरवीर और दूसरे में रात। अरब जगत में हज़ार कहानियों का एक मशहूर संकलन है जिसका शीर्षक है सहस्त्र रजनी चरित्र इन कहानियों में आज से डेढ़ हज़ार साल पहले के अरब जगत के साथ बाकी दुनिया के रिश्तों की दर्जनों ऐसी जानकारियां मिलती हैं जिनसे तत्कालीन समाज अर्थव्यवस्था धार्मिक विश्वास, राजनीति के बारे में बहुत कुछ जाना जा सकता है। किसी भी आधुनिक राष्ट्र-राज्य की पहचान और उसके राष्ट्रहित इसी तरह की मिथकीय-पौराणिक परंपरा के आधार पर निर्मित होते हैं। पीढ़ी-दरपीढ़ी जारी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से जो रिश्ते जुड़ते हैं वह किसी निर्णायक समझे जाने वाले युद्ध में हार-जीत से कहीं अधिक असरदार साबित होते हैं। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पारंपरिक मित्र और शत्रु वाली अवधारणाएं जनमानस में इतिहास की गैर पेशेवर जानकारी के अनुसार ही बनती-बिगड़ती रहती हैं। इस अध्याय में पश्चिम एशिया और अफ्रीका- अफ्रीका और यूरोप तक कहानी के सूत्र पहुंचते हैं और इस्लाम के आविर्भाव और भारतीय उपमहाद्वीप में सिंध पर अरब आक्रमण पर नई रोशनी पड़ती है- लेखक पाठक को महमूद गजनवी से आगे बढ़कर कुछ सोचे।

सातवां और आठवां अध्याय हिन्द महासागर में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के एक बिल्कुल दूसरे आयाम को उजागर करते हैं- एक का शीर्षक है मरचेन्ट्स, टम्पल्स, एण्ड राइस तो दूसरे का है टेजर्स और स्पाइस। मोटा-मोटी सातवें अध्याय में कम्बोडिया के खमेर साम्राज्य की कहानी का बखान है।



खमेर साम्राज्य का विस्तार 14 वीं - 15 वीं शताब्दी में वियतनाम की सरहद तक और थाइलैण्ड तक फैला हुआ था। आज का लाओस भी उसके प्रभावाधीन था। अंकोरवट नामक मंदिर संसार के विशालतम हिन्दू मंदिर के रूप में मशहूर है। विद्वानों का मानना है कि इस तरह के मंदिर का निर्माण करने के लिए एक विशेष प्रकार की अर्थव्यवस्था और राजनैतिक प्रणाली के सन्नीपात का होना अनिवार्य है जाहिर है कि एक विशेष सामाजिक संरचना इन दो के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी है। विट फोगल जैसे विद्वानों का मानना है कि संसार में कुछ सभ्यताएं ऐसी विकसित हुई हैं जो जलप्रबंधन पर आधारित हैं। एशियाई अधिनायकवाद को वह ऐसी सभ्यताओं के साथ जोड़ते हैं चीन हो या खमेर साम्राज्य उनकी नज़र में इसी तरह की सभ्यता का उदाहरण है। सैमुअल हनटिंग जैसे लेखक जब क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन्स की चर्चा करते हैं तो उनके लिए सभ्यताओं की भिन्न धार्मिक और नस्लवादी भेदभाव के कारण ही होती है जिसे वह दरारो या फॉल्ट लाइन्स का नाम देते हैं।

मजेदार बात यह है कि आधुनिक भूमंडलीकरण के पहले जिन महान सभ्यताओं साक्षात्कार हिन्द महासागर के माध्यम से हुआ है उनके लिए यह अनुभव मुठभेड़ वाला नहीं बल्कि संगम वाला रहा है। जिस प्रकार दक्षिण भारत में मंदिरों के निर्माण के साथ अग्राहार गांवों की व्यवस्था थी और यह देवालय शिक्षा और संस्कृति, वैज्ञानिक शोध का प्रमुख केन्द्र भी थे यह बात याद दिलाने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि राजा को देवत्व प्रदान करने वाली अवधारणा और भूमि को पवित्र समझने की भावना का आयात दक्षिण पूर्व एशिया में भारत से ही हुआ था। आठवें अध्याय में उस कथानक की भूमिका प्रस्तुत की गई है जिसमें यूरोपीय शक्तियों का मसालों की खोज में एशिया में पदार्पण हुआ। उनके प्रवेश के साथ ही संस्कृतियों का संगम मुठभेड़ में बदलने लगा सहअस्तित्व की जगह संघर्ष ने ले ली। नवें अध्याय का शीर्षक नटमेग एण्ड क्लोव्स है अर्थात् जवित्री और लौंग। दसवां अध्याय हीरो और अफीम के व्यापार को समर्पित है। यह तीनों अध्याय मुख्यतः आर्थिक सरोकारों से जुड़े हैं। हीरो की खाने अफ्रीकी महाद्वीप में

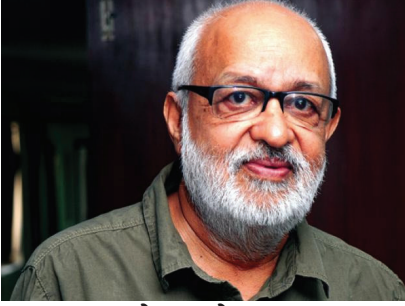
थी और इन्हीं के लालच में यूरोपी अन्वेषक उस महाद्वीप के मर्मस्थल तक पहुंचने के लिए दुस्साहसिक अभियान संचालित करते रहे। विश्व इतिहास के छात्र इस बात से भलीभांति परिचित हैं कि चीनी साम्राज्य की शक्ति का क्षय अंग्रेजों द्वारा अफीम के नशे में गाफिल बनाए जाने के पहले ही हो गया था। इन अध्यायों में हमें अनेक ऐसे यूरोपीय पात्रों के दर्शन होते हैं जिनको हम आज भारत में बर्तानवी राज के कारण भुला चुके हैं। आज कम लोगों को यह बात याद रही है कि इन्डोनेशिया एक डच उपनिवेश था और पुर्तगाली चीन के मकाऊ प्रदेश तक पहुंच चुके थे। भूमंडल की परिक्रमा करने वाले अंग्रेज नहीं बल्कि स्पेनवासी और पुर्तगाली ही थे। पुस्तक के इस हिस्से को पढ़ते हुए कई बार नयन चंदा की भूमंडलीकरण पर लिखी पुस्तक बाउन्ड टुगैदर याद आती है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक आदान-प्रदान के ताने-बाने के रूप में बुने बहु रंगीय सूत्रों को सहेजकर देखने-परखने का काम किया गया है।

अंतिम अध्याय का शीर्षक है फॉम डस्ट टू ए न्यू डॉन जिसका अनुवाद किया जा सकता है सूर्यास्त से नये सूर्योदय तक। दिक्कत यह है कि कुछ ही पन्नों में सागर में सागर भरने का जो प्रयत्न लेखक ने किया है वह पाठक की प्यास बुझाता नहीं बल्कि उसे बुरी तरह अत्रिप्त छोड़ देता है। हिन्द महासागर के क्षेत्र में स्थित देशों की उपनिवेशवाद से मुक्ति और नवोदित राष्ट्रों के रूप में उनके उदय का प्रसंग बेहद रोमांचक है। इसी भाग में श्री अरविन्दो का पाण्डिचेरी जाना और आश्रम की स्थापना देशप्रेमी क्रांतिकारियों का दण्डद्वीप काला पानी में निर्वासन और आजाद हिन्द फौज का नेताजी द्वारा गठन और रणक्षेत्र में नाटकीय उतार-चढ़ाव सभी शामिल किए गए हैं। जाहिर है कि इन सब के साथ न्याय करना असंभव था।

जब पाठक पुस्तक पढ़ना समाप्त करता है तो उसे ऐसा लगता है कि मानो हिन्द महासागर के अलावा विश्वभर में कहीं कुछ और महत्वपूर्ण हुआ ही नहीं है, हो भी नहीं सकता! वास्तविकता यह है कि हिन्द महासागर अन्तः दूसरे महासागरों के साथ अनंतरंग रूप से जुड़ा हुआ है। एक तरह

प्रशांत महासागर तो दूसरी ओर अटलांटिक महासागर की जलराशि इसमें मिलती है। स्वेज नहर के और पनामा नहर के निर्माण के बहुत पहले ही मैगालन और कैप्टन कुक जैसे लोग धरती की परिक्रमा पूरा कर चुके थे और विश्व इतिहास को किसी एक सागर का पर्याय मानना तर्कसंगत नहीं कहा जा सकता। 19 वीं सदी के आरंभ में जब अमेरिका ने मनरो सिद्धांत का प्रतिपादन किया तब से यूरोप की बड़ी ताकतों के लिए अमेरिकी महाद्वीप की गतिविधियों में चाहे वह आर्थिक हो या सामरिक हस्तक्षेप करना असंभव सा हो गया है। 20 वीं सदी के पूर्वाद्ध में अमेरिकी शक्ति की तेजी से बढ़ोत्तरी हुई पहले और दूसरे महायुद्ध में तबाही से वह बचा रहा और युद्ध की जरूरत पूरा करने वाले उद्योग धंधों के पनपने के कारण उसकी समृद्धि भी कई गुना बढ़ गई। शीत युद्ध के दौर में यूरोप की बड़ी ताकतें उसके सामने बौनी नज़र आने लगी। विस्तारवादी सोवियत संघ का सामने करने के लिए उन्हें अमेरिकी आर्थिक सहायता और सैनिक संरक्षक छत्र-छांया की जरूरत पड़ने लगी। इसीलिए अटलांटिक साझेदारी अत्यंत महत्वपूर्ण समझी गई। दूसरे शब्दों में यह दौर हिन्द महासागर के मंथन को नहीं बल्कि अटलांटिक को ही प्राथमिकता देने वाला था।

इसी तरह 20 वीं सदी के तीसरे चरण में प्रशांत महासागर को संवेदनशील और सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा गया और बारंबार अमेरिकी सामरिक विशेषज्ञ प्रशांत महासागर की परिधि की बात करते रहे। उस वक्त जापान का उदय एक आर्थिक महाशक्ति के रूप में हो रहा था। कुछ ही दिन बाद कोरिया और ताइवान भी अपने तेज आर्थिक विकास के कारण चर्चित होने लगे। आज यह सब आर्थिकमंदी और पस्ती की चपेट में है। अतः प्रशांत महासागर उतना उल्लेखनीय नहीं रह गया। इसी कारण आज अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक बार फिर हिन्द महासागर का मंथन हमें आकर्षक लगने लगा है। भारतीय पाठकों के लिए यह बात सोचने लायक है कि जिस महासागर के साथ उनका नाम जुड़ा है उसके घटनाक्रम को अपने राष्ट्रहित में प्रभावित करने की उनकी अपनी क्षमता कितनी है? □



प्रो. पुष्पेश पंत

पुस्तक के शीर्षक का अनुवाद सहज है—इंकलाब जिंदाबाद! यह नारा लातीनी अमेरिकी देशों में बहुत लोकप्रिय है। जब बोलीवार ने हिस्पानी उपनिवेशवाद से इस गोलार्ध को आजादी दिलाई तभी से 'क्रांति' शब्द का लचीला प्रयोग यहां के संदर्भ में होता रहा है। विडंबना यह है कि इंकलाब का नारा जोर शोर से बुलंद करने वाले दक्षिणी अमेरिकी देश पिछली दो सदी से जब से यूएसए ने मुनरो सिद्धांत का प्रतिपादन किया अमेरिका के पिछलगुए और बगलबच्चे ही समझे जाते रहे हैं। सरकारें भले ही अपने को क्रांतिकारी घोषित करती रहती हैं उनका पूंजीवाद समर्थक अमेरिका पर निर्भर चरित्र किसी से छुपा नहीं रहा है। जनतांत्रिक चुनावों के मुखौटे के पीछे सैनिक तानाशाही ही जमीनी हकिकत है।

भौगोलिक दूरी के कारण इन देशों के सात बाकी दुनिया के संबंध नाम मात्र के ही रहे हैं। अपवाद हैं तो यूएसए और वह यूरोपीय देश जो कभी यहां अपने साम्राज्य की स्थापना कर इन देशों को अपना उपनिवेश बना चुके थे। भाषा, धर्म, संस्कृति के साम्य के कारण यह स्वाभाविक भी है। तथापि 20 वीं सदी के मध्य से दक्षिण अमेरिकी गोलार्ध में वास्तव में क्रांतिकारी बदलाव की उथल-पुथल जारी रही है जिसके प्रति अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई भी छात्र निर्विकार उदासीन नहीं रह सकता। इसी लिए यह पुस्तक महत्वपूर्ण समझी जानी चाहिए। हाल के वर्षों में भारत ने ब्राजील के साथ राजनयिक-सामरिक संबंधों

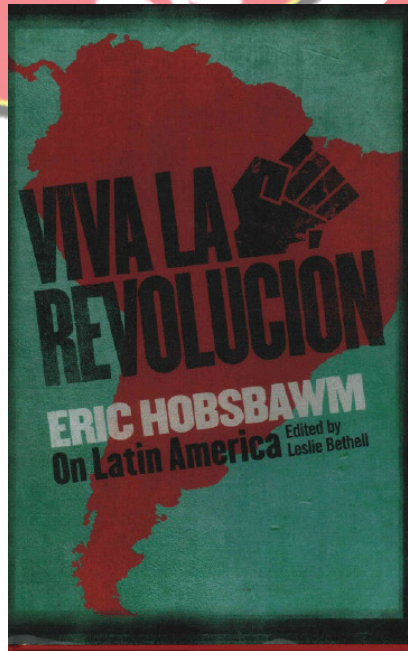
विवा ला रेवोल्यूसियौन लेस्ली बैथेल द्वारा संपादित लेखों का संकलन

लेखक: एरिक हौब्सबौम

को घनिष्ठ बनाने की चेष्टा की है। इसका तथा बिक्स वाला राजनय इसी का उदाहरण है। अन्य देश अधिकांशतः उपेक्षित ही रहे हैं। हाल में जब वेनेजुएला में गुटनिरपेक्ष देशों का शिखर सम्मेलन संपन्न हुआ तब कुछ लोगों को इस बात का अहसास हुआ कि दक्षिण अमेरिकी महाद्वीप में ब्राजील के अलावा भी ऐसे देश हैं जिन्हें संयुक्त राज्य अमेरिका का पिछलगुया या नव उपनिवेश नहीं समझा जा सकता। वेनेजुएला एक तेल उत्पादक और तेल निर्यातक देश है, पर इसके बावजूद अमेरिका ने फिलहाल उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबंध लगा रखे हैं जिनकी वजह से उसकी अर्थव्यवस्था चरमरा रही है। इस शिखर सम्मेलन के आयोजन में भी इस कारण प्रभाव पड़ा। समाजवादी रुझान के पूर्व राष्ट्रपति शेवेज के कार्यकाल से ही वेनेजुएला लातीनी अमेरिका में यूएसए

की नीतियों का प्रतिरोध करता रहा है और उसी का खामियाजा भुगत रहा है। ब्राजील तथा अर्जेंटीना, चिली को भुलाना आसान नहीं—उनके आकार तथा सांस्कृतिक वजन के कारण किंतु दक्षिणी गोलार्ध के मानचित्र पर दर्शाए जाने वाले अनेक अन्य देशों की स्थिति वेनेजुएला से बेहतर नहीं। निकारागुवा, कोलंबिया, पेरू, इक्वेडोर, बेलीज तथा कैरिबियाई क्षेत्र में क्यूबा के अपवाद को छोड़ शायद ही किसी देश की चर्चा भारत के राष्ट्रहित के संदर्भ में कभी विस्तार से होती है। विडंबना यह है दशकों से गुटनिरपेक्ष भारत दक्षिण अमेरिका के विकासशील देशों को अपनी अर्थात् तीसरी दुनियावाली बिरादरी का हिस्सा मानता रहा है और महाशक्तियों की रस्साकशी के नुकसान से बचने के लिए एशियाई, अफ्रीकी और लातीनी अमेरिकी भाईचारे वाले नारे को बुलंद करता रहा है। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखे बिना एरिक हौब्सबौम की मरणोपरांत प्रकाशित इस पुस्तक का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता।

1959 में फिदाल कास्त्रो के नेतृत्व में क्यूबा में छापामार नौजवानों ने जो क्रांति संपन्न की उसने शीत युद्ध के सबसे कठिन दौर में एक नए युग का सूत्रपात किया था। 1960 वाले दशक में इस सनसनीखेज सफलता ने दक्षिणी अमेरिका में ही नहीं अफ्रीका एशिया के अनेक अन्य देशों को प्रेरणा दी तथा मुक्तिकामी बनाया। नव निर्वाचित अमेरिकी राष्ट्रपति जॉन कॅनेडी ने सत्ता ग्रहण करने के तत्काल बाद क्यूबा में तख्ता पलट द्वारा सत्ता परिवर्तन की नाकाम कोशिश की। इस साजिश की सलाह उन्हें गुप्तचर संगठन सीआईए ने दी थी। इसकी असफलता ने अमेरिका की शर्मनाक लाचारी को जगजाहिर



किया। इसके बाद क्यूबा का प्रभा मंडल और भी चमत्कारी चमकीला बन गया। 1962 में क्यूबाई मिसाइल संकट ने विश्व को दो महाशक्तियों के बीच परमाणविक मुठभेड़ तक पहुंचा दिया। इस संकट निवारण के लिए ही 'हॉट लाइन' वाली व्यवस्था अपनाई गई और यह सुझाना अतिरंजना नहीं कि इसके बाद ही तनाव शैथिल्य की संभावना प्रकट हुई। क्यूबा का अनुभव नवोदित राज्यों के लिए कई मायने में महत्वपूर्ण समझा जाता था। क्यूबा की क्रांति का रास्ता न तो पार्टी की अगुवाई में आम श्रमिक संगठनों की आम हड़ताल के बाद उत्पीड़क सरकार के उन्मूलन वाला क्लासिक लेनिनवादी था और नहीं हथियारबंद किसानों द्वारा शहरों को घेरकर उनके घुटने टकाने वाला चीनी माओवादी। मुट्टी भर आदर्शवादी नौजवान बौद्धिकों-पेशेवरों द्वारा लंबे समय से चली आ रही तानाशाही का खात्मा वास्तव में एक रोमांचक अभूतपूर्व घटना थी जिसके साथ जुड़ा रोमांस दशकों तक बरकरार रहा। इसी के प्रभाव से अभी तक क्यूबा की क्रांति का तटस्थ मूल्यांकन कठिन रहा है।

पक्षधर यह मानने को तैयार नहीं हैं कि अमेरिका जैसे शक्तिशाली शत्रु से बैर पाल कर भी क्यूबा यदि अपना स्वाधीन अस्तित्व बचाए रख सका तो सिर्फ इसी कारण कि उसकी पीठ पर सोवियत संघ का वरद हस्त था। सोवियत संघ से प्राप्त होने वाली सहायता के कारण ही उसके सामरिक हित निरापद रह सके और उसे कट्टरपंथी समाजवादी अर्थव्यवस्था से लगातार होनेवाले नुकसान की भरपाई भी सोवियत मित्र ही करते थे। इसी सहारे के भरोसे क्यूबा अंगोला और मोजांबीक जैसे दूर दराज देशों के समान धर्मा क्रांतिकारियों की सहायता के लिए अपने सैनिक दस्ते भेजने की दिलेरी दिखला सका। एक और बात याद रखने लायक है।

1965 से लगभग एक दशक तक विएतनाम के मुक्तिसंग्राम में तेजी आती रही और अमेरिका के लिए वही संघर्ष प्राथमिक सामरिक चुनौती बन गया। रही सही कसर मध्यपूर्व में फिलिस्तीनी-इजरायली सैनिक मुठभेड़ों ने पूरी कर दी। 1969 में सोवियत-चीनी वैमनस्य का उसूरी नदी तट पर विस्फोट हुआ जिसने साम्यवादी खेमे की दरार पर लीपापोती को असंभव बना

दिया। यही वह दौर था जब माओ ने महान सांस्कृतिक क्रांति का आह्वान किया और उस अराजक उथलपुथल को जन्म दिया जिसने चीन के प्रति अनेक एशियाई अफ्रीकी देशों को आशंकित कर दिया। यूरोपीय साम्यवाद की अवधारणा भी इसी वक्त प्रकट हुई और रेंगिस दब्रे जैसे लेखकों ने फिदाल कास्त्रो के साथ साक्षात्कार के प्रकाशन से क्यूबा की क्रांति का महिमामंडन सहज बनाया। इस दौर में यह बात अनदेखी रह गई कि करिश्माई व्यक्तित्व के धनी कास्त्रों के सहयोगी चेगेवेरा क्यूबा के प्रयोग को बोलिविया में दोहराने में असमर्थ रहे।

एरिक हौब्सबौम की लातीनी अमेरिकी देशों की यात्राएं इसी स्वर्णिम प्रभात वेला में आरंभ हुईं। कट्टर मार्क्सवादी लेखक जीवन पर्यंत यह स्वीकार करने में असमर्थ नजर आता है कि लातीनी अमेरिकी देशों का तब से अब तक का अनुभव विश्वव्यापी क्रांति की संभावनाओं के क्रमशः धूमिल तथा नष्ट होने के करुण यथार्थ का ही प्रमाण है। वह एकाधिक देशों के समसामयिक इतिहास का सर्वेक्षण कर यह दर्शाने की चेष्टा करते हैं कि क्यों और कैसे आज भी यह देश विश्व राजनीति में महत्वपूर्ण हैं खास कर विकासशील देशों के लिए।

क्यूबा के बाद जो देश 1970 वाले दशक में सबसे ज्यादा चर्चित रहा, वह चिली था। जहां साल्वादोर अलांदे ने जनतांत्रिक चुनाव के जरिए सत्ता ग्रहण की थी। यह देश मशहूर समाजवादी पक्षधरता वाले रोमानी

कवि पाब्लो नेरुदा का देश था। चिली आकार में ब्राजील तथा अर्जेन्टीना के बाद सबसे बड़ा है और तांबे की खानों में अमेरिकी कंपनियों के निवेश के कारण अमेरिका के लिए अहमियत रखता था। अलांदे का तख्ता बागी सेना ने पलट दिया और अलांदे ने आत्महत्या कर ली। इसके बाद शुरू हुआ पिनोकचे के अत्याचारी मानवाधिकारों का बर्बर उल्लंघन करने वाले दौर का। यह उस देश के इतिहास का सबसे काला अध्याय है। यह अचरज की बात है कि लेखक इस सवाल का उत्तर तलाशने की कोशिश नहीं करता कि कैसे इस दमनकारी सरकार को दुनिया के बड़े देशों की मान्यता वर्षों तक मिलती रही।

दक्षिण अमेरिक के संदर्भ में जब क्रांति शब्द का प्रयोग होता है तो उसे पारंपरिक रूप से हिंसात्मक सत्ता परिवर्तन तथा सैनिक तख्तापलट का पर्याय समझा जाता है। अर्जेन्टीना में पहले लोकप्रिय तानाशाह पेरोन फिर उनकी करिश्माई छवि वाली पत्नी ईवा ने शासन किया। लोकलुभावन नारों के आधार पर जनता को मंत्रमुग्ध रखने वाले ऐसे नेता मार्क्सवादी क्रांति के दर्शन को चुनौती देते नजर आते रहे हैं। कृषि और खनिज एवं वन संपदा के दोहन पर आधारित अर्थ-व्यवस्था से अर्जित धनराशि का उपभोग छोटा सा शासक वर्ग करता रहा है। वंचित आदिवासी उत्पीड़ित शोषित ही रहे। इनके बीच क्रांतिकारी चेतना का प्रसार क्यों नहीं हुआ? क्यों किसान संगठित हो आंदोलन के लिए प्रेरित नहीं हुए? इन प्रश्नों का उत्तर



लेखक तलाशता तो है पर उसका विश्लेषण विश्वसनीय नहीं लगता। अधिकांश विद्वान इस बारे में एकमत हैं कि दक्षिणी गोलार्ध में अर्जेन्टीना एक ऐसा देश है जिसकी राजनीति द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से निरंतर प्रतिगामी प्रतिक्रियावादी रहा है। वह इस महाद्वीप की क्रांतिकारी हलचल से अछूता ही रहा है। जब कभी वह सुर्खियों में आया है तो अपनी फुटबॉल टीम के पराक्रम के कारण या फिर बोर्खेस जैसे लेखक की रचनाओं के कारण। कुछ समय के लिए फॉकलैंड द्वीप विवाद के कारण ब्रिटेन के साथ सैनिक मुठभेड़ की वजह से भी अर्जेन्टीना की ओर बाहरी दुनिया का ध्यान गया था।

1970 के दशक में मुक्तिकामी ईसाइयत (लिबरेशन थियोलॉजी) का उफान देखने को मिला। राउल प्रेबेरिश जैसे लेखकों ने पैडेगौजी औफ दि औप्रेस्ट जेसी पुस्तकों को प्रकाशित कराया जो दक्षिण अमेरिकी अनुभव पर आधारित निष्कर्षों को सार्वभौमिक महत्व का साबित करने का प्रयास थीं। समीर अमीन जैसे अर्थशास्त्रियों ने अल्प विकसित अर्थव्यवस्था का अध्ययन करने के लिए भी दक्षिण अमेरिका को सबसे बेहतर प्रयोगशाला समझा। परनिर्भर विकास और परावलंबन की राजनीति के अंतरसंबंध के आधार पर ही नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के गठन की मांग उठी थी। नव उपनिवेशवाद और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद तथा आधिपत्य की अवधारणाओं की स्थापना के संदर्भ में इन वर्षों में बारंबार समतापोषक विश्लेषक लातीन अमेरिकी देशों की तरफ नजर गड़ाए रहे।

इस पुस्तक में अनेक ऐसे लेख संकलित हैं जिनके फोकस में बड़े देश नहीं बल्कि पेरू, कोलंबिया, वेनेजुएला जैसे छोटे देश हैं जो अपने आकार और आबादी की वजह से अकसर उपेक्षित रह जाते हैं। पेरू इसका अच्छा उदाहरण है। बाद के वर्षों में वह शाइनिंग पाथ नामक उग्रवादी दहशतगर्दी की गतिविधियों के कारण चर्चा में रहा या अपने जापानी मूल के राष्ट्रपति फूजीमोरी के ऊपर लगे भ्रष्टाचार के आरोपों के कारण। कोलंबिया का दुर्भाग्य यह है कि कोकीन जैसे मादक पदार्थों की तस्करी के कारण वह अमेरिकी गुप्तचर संगठनों के निशाने पर रहा है। संगठित माफियाओं की नाक में नकेल डालने में सरकारें असमर्थ रही

हैं और सार्वजनिक जीवन में निरंकुश हिंसा का विस्फोट आम है जिसकी वजह से यह देश बदनाम रहा है। आदिवासी असंतोष तथा जनांदोलन मात्र अराजकता को प्रोत्साहित करते दिखलाई देते रहे हैं। विषमता तथा क्षेत्रीय असंतुलन से अपनी ही तरह पीड़ित पड़ोसी देशों के साथ सहकार की संभावना कभी नजर नहीं आई, ऐसा जान पड़ता है। क्या इस कुठित विकास के लिए अकेले पूंजीवादी अमेरिका और बहुराष्ट्रीय कंपनियों को जिम्मेदार ठहराया जा सकता है? चूंकि लेखक अलग-अलग देशों का अध्ययन अलग-अलग समय पर लेखों में करता है कोई तुलनात्मक निष्कर्ष निकालना कठिन हो गया है।

यहां यह रेखांकित करना जरूरी है कि पुस्तक लेखक के मरणोपरांत प्रकाशित हुई है और लेखों का चयन उसके पुराने मित्र ने किया है शायद यह सोच कर कि यह रचनाएं स्थाई महत्व की हैं और समकालीन विश्व राजनीति और अर्थव्यवस्था को समझने में आज भी मददगार हो सकती हैं। हमारी समझ में पेरू तथा कोलंबिया वाले लेख बहुत पुराने पड़ गए हैं और पाठक को इस जानकारी को लाभदायक बनाने के लिए पूरक सामग्री की दरकार बनी रहेगी। कोलंबिया की शोहरत के साथ मार्खेज का नाम जुड़ा है जो अपने लेखन के जादुई यथार्थवाद के लिए मशहूर हैं। लेखक यह कह कर संतुष्ट हो जाता है कि कोलंबिया का यथार्थ मार्खेस के उपन्यासों की फन्तासी को भी पछाड़ता

है और 'वायोलेंसिया' (उद्दाम हिंसा) ही सार्वजनिक जीवन का मूल संस्कार है। पर यह सवाल अनत्तरित रहता है कि इसके बावजूद कैसे संप्रभु राज्य के रूप में कोलंबिया अपना अस्तित्व बचाए रख सका है और कैसे बड़े पैमाने पर कॉफी का उत्पादन तथा निर्यात करता रहा है। सेना और साम्यवादी पार्टी की भूमिका का विश्लेषण भी आधा अधूरा लगता है।

लेखक का देहांत 2012 में 92 वर्ष की उम्र में हुआ। तब तक वेनेजुएला में समाजवादी शेवेज ही सत्तारूढ़ थे। यह सपना जीवित था कि कोई जुझारू समाजवादी अमेरिकी दैत्य को चुनौती देने का हौसला रखता है। तब से अब तक हालात काफी बदल चुके हैं। वेनेजुएला ही नहीं ब्राजील में भी 'समाजवादी ताकतें' संकटग्रस्त हैं। लुल्ला की उत्तराधिकारी रूसोफ को महाभियोग लगा कर अपदस्थ किया जा चुका है। खुद क्यूबा के साथ अमेरिका के संबंधों का सामन्यीकरण आरंभ हो चुका है। फिदाल कास्त्रो जीवित हैं और बीच-बीच में हुंकार भरते हैं पर उनकी जगह भाई राउल कास्त्रो ले चुके हैं और खांटी समाजवादी नीतियों से विकास की गति तेज करने के नाम पर नीतियों में बदलाव की सुगबुगाहट महसूस की जा सकती है। मध्य अमेरिका और कैरिबियाई प्रदेश में अमेरिका अपनी सामरिक सुरक्षा को मैक्सिको से आने वाले घुसपैतियों की बाढ़ की वजह से संकटग्रस्त समझता है। इस समस्या को पूरी तरह से नस्लवाद से अलग कर भी नहीं देखा जा सकता।



यह पुस्तक सात खंडों में विभाजित है। प्रत्येक भाग में पांच छह अध्याय हैं जो समय-समय पर लिखे लेखों का आंशिक रूप से संशोधित अवतार हैं। आंशिक जोड़ना जरूरी है क्योंकि संपादक ने दुहराव से बचने का कोई प्रयास नहीं किया है और नहीं बदली परिस्थितियों में बरसों पुराने सैद्धांतिक निष्कर्षों को परखने की या आशावादी स्वर पर समकालीन टिप्पणी की जरूरत समझी है। बीसवीं सदी में समाजवादी/साम्यवादी विचारधारा का ऐतिहासिक अध्ययन करने वाले के लिए सभी लेख उपयोगी हो सकते हैं पर राजनीति के छात्र के लिए इनकी उपयोगिता बहुत सीमित हो चुकी है। अर्थव्यवस्था के वैकल्पिक मॉडल के बारे में भी यही बात तर्क संगत है। अपने निधन के पहले हौब्सबॉम यह बात स्वीकार करने को मजबूर हुए थे कि साम्यवाद का देहांत हो गया है।

मगर इस पुस्तक में इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता कि मार्क्सवाद के प्रति अटूट सहानुभूति के बावजूद इतिहासकार के रूप में लेखक का नजरिया निर्मम तटस्थता वाला था। परेशानी की एक बात और है। किसान आंदोलन या क्रांति की संभावना के रूप में पेरू तथा कोलंबिया बीसवीं सदी के मध्य में चाहे कितना ही निर्णायक महत्व के संवेदनशील भौगोलिक स्थल रहे हों दक्षिण

अमेरिका की नियति को प्रभावित करने की उनकी क्षमता का कड़ुवा सच भिन्न है। इस पक्षधर पूर्वाग्रह के कारण प्रस्तुत पुस्तक में काफी असंतुलन देखने को मिलता है। सामग्री का बड़ा हिस्सा पेरू, कोलंबिया तथा मैक्सिको में क्रांति के विश्लेषण को समर्पित है जब कि आज अंतर्राष्ट्रीय राजनय और अर्थ व्यवस्था में ब्राजील की प्रतिष्ठा प्रमुख क्षेत्रीय शक्ति के रूप में हो चुकी है। लेखक ने एक अध्याय में अमेरिकी साम्राज्यवाद के लातीनी अमेरिका पर प्रभाव का संक्षेप में अध्ययन तो पेश किया है पर क्यूबा की क्रांति से अब तक इसके स्वरूप का रूपांतर अनदेखा ही रह गया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के गतिशील होने के बाद अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कही जाने वाली कंपनियों के लिए पूर्ववत् आचरण की जरूरत नहीं। उदारीकरण वाले आर्थिक सुधारों को अपनाने के बाद नवउदार विचारधारा का समर्थन समाजवादी शासक भी बेहिचक कर सकते हैं।

जहां पुस्तक की भूमिका में संपादक और लेखक अपने लेखों में यह इंगित करते हैं कि तीसरी दुनिया के लिए दक्षिणी अमेरिकी देशों के क्रांतिकारी तेवर और अनुभव कितने मूल्यवान हैं वहीं यह समझ में नहीं आता कि क्यों फिर यह विद्वत्पूर्ण पड़ताल इस महाद्वीप के अफ्रीका तथा एशिया के देशों के सात सामुदायिक हितों पर प्रकाश डालने का प्रयास नहीं करती। एक खंड किसानों को समर्पित है तो दूसरा सैनिक क्रांतिकारियों को। पर दोनों ही जगह अफ्रीका-एशिया के समकालीन अनुभव के साथ तुलनात्मक नजरिए का अभाव है। क्रांति तथा क्रांतिकारियों वाला खंड सबसे दिलचस्प है जिसमें इस भूभाग में छापामारी, चे गेवरा की शख्सियत और विरासत के साथ मैक्सिको और क्यूबा की क्रांति का बखान है। इसी हिस्से में अमेरिकी साम्राज्यवाद वाला अध्याय भी शामिल है। पुस्तक का दूसरा खंड बोझिल है और सामान्य पाठक को ध्यान में रख कर नहीं लिखा गया है। इसमें कृषि के संरचनात्मक ढांचे और सामंती मानसिकता के अंतर्संबंध उद्घटित किए गए हैं।

कुल मिला कर यह पुस्तक पठनीय और उपयोगी कही जा सकती है। पर यह बात याद रखना बेहद जरूरी है कि जिस वक्त लातीनी अमेरिका की क्रांति

को तीसरी दुनिया के समस्त देशों के लिए प्रेरक-उत्प्रेरक समझा जाता था, तब सोवियत संघ अमेरिका का ऐसा प्रतिद्वंद्वी था जो उसे संतुलित करता था। अमेरिका को दक्षिण अमेरिका में चुनौती देने वाले हर देश की अपेक्षा उसके समर्थन की रहती थी। आज पुतिन के रूस की कोई तुलना खर्शेचव कालीन रूस से नहीं की जा सकती। यूक्रेन में हस्तक्षेप के बाद रूस की प्राथमिकता लातीनी अमेरिका या अफ्रीका भी नहीं। यूरोपीय मोर्चा ही उसके लिए सर्वाधिक संवेदनशील है। इसके बाद नंबर आता है मध्यपूर्व का। चीन और जापान दक्षिणी चीनी सागर के विवाद में उलझे हैं और 'नई दुनिया' में उनके हितों के टकराव की अटकलें लगाना बेकार है। यह जोड़ना इसलिए जरूरी लगता है कि लेखक अकसर यह दावा करता है कि अपनी बहुलता के कारण दक्षिण अमेरिक अनूठा है। यहां अरब भी हैं, अफ्रीकी भी, चीनी और जापानी स्थानीय आदिवासियों के साथ घुल मिल चुके हैं। यूरोपीय आकाओं के वंशजों की मिश्रित (संकर)संतानों की तादात भी काफी है। अनुत्तरित सवाल यह है कि क्या अखिल लातिन अमेरिकी संदर्भ में यह तत्व एकजुट हो कर राजनीति या आर्थिक क्रियाकलाप को प्रभावित करने की शामर्थ्य रखते हैं या नहीं?

हाल के दिनों में अमाजोन क्षेत्र में जंगलों की अंधाधुंध कटान से पर्यावरण के लिए गंभीर संकट पैदा हो गया है। इसमें अमेरिकी ही नहीं जापानी कंपनियों की जवाबदेही कम नहीं। कार्बन प्रसरण का मुद्दा हो या जैव विविधता के विनाश का आज भी लातीनी अमेरिकी देश बेहद संवेदनशील स्थल हैं। क्या क्षेत्रीय स्तर पर सहकार के अभाव में इन सार्वभौमिक मुद्दों पर कोई सहमति बन सकती है? एक बहुत छोटे अध्याय में ही लेखक ने दक्षिण अमेरिका में राष्ट्रीयता और राष्ट्र की पहचान के जटिल प्रश्नों पर विचार किया है। शायद यह अपेक्षा नाजायज है कि हौब्सबॉम ही सभी सवालों के जवाब भी दे देते तो अच्छा होता! इसके लिए आभार मानना चाहिए कि उन्होंने अनेक विचारणीय मुद्दों को आलोकित किया है और अधिकांश आधा सदी पहले लिखे लेख भी आज तक कुछ ना कुछ प्रासंगिकता बनाए रख सके हैं। □





मणिकांत सिंह

रामचन्द्र गुहा जिन्हें अधिकांश लोग रामगुहा के नाम से पहचानते हैं, संभवतः भारत के सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार और सार्वजनिक बौद्धिक हैं। यह कोई साधारण उपलब्धि नहीं है कि उन्हें नोबेल पुरस्कार विजेता, अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अमरत्यसेन कहा जा सकता है। रामगुहा की इससे पहले प्रकाशित लगभग सभी पुस्तकें बहुचर्चित रही हैं जिनमें से दो खासकर उल्लेखनीय हैं। इनमें एक का शीर्षक है, “इंडिया आफ्टर गांधी” और दूसरी का शीर्षक है “गांधी बीफोर इंडिया।”

पहली किताब को आजादी से आज तक हिन्दुस्तान के समसामयिक इतिहास का सबसे सरस और निष्पक्ष सारसंक्षेप समझा जाता है। यों तो अनेक समर्थ इतिहासकारों ने (मसलन विपिन चन्द्र, आदित्य एवं मुदुला मुखर्जी आदि ने) इसी काल खण्ड पर विचारोत्तेजक और सार्थक लेखन किया है और उनके योगदान का अवमूल्यन नहीं किया जाना चाहिए पर तब भी यह बात रेखांकित करना जरूरी है कि मार्क्सवादी रूझान के इतिहासकारों को कई मुद्दों पर पूर्वाग्रह ग्रस्त समझा जाता रहा है और इसी कारण उन्हें राजनैतिक पक्षधरता के आक्षेप का सामना करना पड़ता है।

धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के बारे में उनकी हठधर्मिता भी ‘राष्ट्रवादी’ इतिहासकारों को परेशान करती रही हैं। दूसरी कठिनाई यह है कि इतिहास के पेशेवर अध्यापक और शोधकर्ता दूसरे इतिहासकारों के लिए ही विशेषज्ञता से बोझिल किताबें लिखते रहे हैं और इसी कारण उनका लेखन आम

डिमोक्रेट्स एण्ड डिसेन्टर्स

लेखक: रामचन्द्र गुहा

आदमी की पहुंच से बाहर होता रहा है। स्वयं विपिन चन्द्रा और उनकी शिष्य परंपरा के इतिहासकारों पर यह आरोप लगाना नाजायज है क्योंकि इन्होंने अपने लेखन को आम आदमी तक पहुंचाने का भरसक प्रयत्न किया है। साधारण पाठक के लिए लिखी गई भारत के स्वाधीनता संग्राम विषयक विपिन चन्द्रा की पुस्तक को नेशनल बुक ट्रस्ट ने प्रकाशित कराया और उनके संपादन में प्रकाशित एन.सी.ई.आर.टी की पाठ्य पुस्तकों के ग्राहकों, पाठकों की दुनिया स्कूली छात्रों तक सीमित नहीं, प्रतियोगी परीक्षाओं में भाग लेने वाले छात्र भी इन्हें उपयोगी समझते हैं।

जहां रामगुहा की पुस्तक इस सामग्री से बेहतर समझी जाती है उसकी वजह न केवल उसका आधुनिकतम देशी-विदेशी शोध के निष्कर्षों का तटस्थ निचोड़ का समावेश है बल्कि उसकी एक खासियत यह भी है कि लेखक की इतिहास दृष्टि किसी एक विषय (इतिहास) तक सीमित नहीं बल्कि समाजशास्त्र-अर्थशास्त्र और राजनीति के अन्तर सम्बंधों को उद्घाटित करने वाली है।

रामगुहा मूल रूप से समाजशास्त्री हैं। 1980 के दशक में उन्होंने उत्तराखण्ड में चिपको नामक जंगल बचाव जनांदोलन को अपनी शोध का विषय बनाया था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा दून स्कूल सेन्ट स्टीफन्स कॉलेज और अमेरिका के येल विश्वविद्यालय में हुई है। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय में अतिथि व्याख्याता के रूप में अध्ययन किया है और कई वर्ष तक नेहरू स्मारक संग्रालय और पुस्तकालय में वरिष्ठ शोधकर्ता के रूप में काम किया है। वह विश्व के अनेक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में पढ़ा चुके हैं। उन्हें साहित्य अकादमी का पुरस्कार तो मिला ही है वह पदम् भूषण से भी अलंकृत किए जा चुके हैं। रामगुहा को मिले सम्मानों की सूची बहुत लंबी है।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के ऐसे लेखों का संग्रह है जो उन्होंने समय-समय पर लिखे हैं किन्तु उनका प्रकाशन पुस्तक के रूप में पहले कहीं नहीं हुआ है। मगर यह जोड़ने की जरूरत है कि यह सभी लेख पहले प्रकाशित हो चुके हैं। यह लांछन रामगुहा पर



RAMACHANDRA
GUHA

DEMOCRATS
AND
DISSENTERS

पहले भी लग चुका है कि वह अपने शोध और लेखन का पुनर्वितरण नयें-नयें अवतारों में करते रहते हैं इनमें से कुछ लेख टैलेग्राफ नामक अखबार में छपे तो कुछ हिन्दू में। अधिकांश इकनोमिक एण्ड पॉलिटिकल विकिली नामक वामपंथी रूझान वाले अंग्रेजी साप्ताहिक में छपे हैं। लंबे लेखों को छापने के लिए मशहूर अंग्रेजी पत्रिका कैरावान में भी कुछ लेख छपे हैं। इसी कारण लेखों के वज़न में अन्तर साफ देखने को मिलता है। कहने का अभिप्राय यह नहीं कि कोई भी लेख हल्का है या पठनीय नहीं है।

इस टिप्पणी से सिर्फ यह संकेत दिया जा रहा है कि यह बात बिल्कुल साफ हो जाए कि भले ही रामगुहा मार्क्सवादी दुराग्रह से मुक्त है- नेहरूवादी, समाजवादी, उदार, धर्मनिरपेक्ष, जनतांत्रिक, हठधर्मी में वह पीछे नहीं। अपने लेखों का यदि वह पुनर प्रकाशन करते रहते हैं तो उनका एक मकसद यह भी है कि उनकी इस विचारधारा से अधिक से अधिक लोगों को प्रभावित किया जा सकें। इस पुस्तक की भूमिका के रूप में पहले अध्याय को पेश किया जा सकता है लगभग बीस पृष्ठों के इस अध्याय का शीर्षक है कांग्रेस की लंबी जिंदगी और तिल-तिल होती मौत। इस अध्याय के अंतिम पैराग्राफ में लेखक का यह निष्कर्ष है कि सुदीर्घ जीवन के बाद भले ही कांग्रेस का देहांत (मौजूदा निकम्मे नेतृत्व के कारण) अब टाला ना जा सकता हो जब भी भविष्य में इतिहास लिखा जाएगा यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि कांग्रेस ने भारत को कम हिंसक कम विभाजित कम पितृ सत्तात्मक कम असहिष्णु कम विषमता से पीड़ित और कम पराधीन समाज बनाया अर्थात् कांग्रेस ना होती तो यह सब संभव न होता। इतने नकारात्मक विशेषणों से वाक्य को सजा कांग्रेस को महिमा मंडित करने का यह प्रयास जरूरत से ज्यादा हाथ की सफाई और बौद्धिक विलास लगता है।

किताब का पहला हिस्सा राजनीति और समाज पर केन्द्रित है। इसमें आठ छोटे-छोटे अध्याय हैं जिनमें भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अलावा भारत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के संकट और जयप्रकाश नारायण बनाम जवाहरलाल नेहरू के बीच जनतंत्र को लेकर बहस के अलावा आजाद भारत में आदिवासी जीवन की त्रासदियां विशेष रूप से पठनीय

है। इसी हिस्से में तीन अध्याय ऐसे हैं जो विदेशनीति और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से जुड़े हैं। इनके शीर्षक हैं: चीन के बारे में सोच पाकिस्तान बिना आसू के, भारत-श्रीलंका और अन्यत्र जनतंत्र और हिंसा। इस खण्ड का अंतिम अध्याय है (अबतक) हमारे जीवन का सबसे बुरा वर्ष। इस खण्ड की सामग्री की समीक्षा करने के पहले पुस्तक के दूसरे खण्ड पर एक नज़र डालना जरूरी है। इस भाग का शीर्षक है बौद्धिक और विचारधाराएं (आइडियोलोजीस एण्ड इनटलैक्चुवल्स)। इस खण्ड में भी आठ अध्याय हैं। इस हिस्से में तीन लेख ऐसे हैं जिनका कोई ना कोई संबंध पहले खण्ड के लेखों से अर्थात् समसामयिक भारत के सामाजिक जीवन के यथार्थ से जुड़ता है। इनमें से एक अमर्त्यसेन के विचारों पर केन्द्रित है दूसरे में भारत में प्रतिगामी (रूढ़िवादी) कन्जर्वेटिव इनटलैक्चुवल्स संबंधी विमर्श है और तीसरे लेख में (जिसका शीर्षक है भारत का सबसे ज्ञानी पुरुष) प्रसिद्ध समाजशास्त्री आन्द्रे बेतीय के समग्र कृतित्व का संवेदनशील मूल्यांकन किया गया है।

इसके अलावा दो और लेख ऐसे हैं जो अप्रत्यक्ष रूप से पर काफी विचारोत्तेजक तरीके से भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन की जटिलता को समझने में हमारी सहायता कर सकते हैं इनमें से पहले प्रख्यात मार्क्सवादी इतिहासकार डीडी कौसाम्बी के पिता दामोदर कौसाम्बी का संक्षिप्त जीवन वृत्त प्रस्तुत करता है और दूसरा कन्नड के विश्व विख्यात लेखक अनंतमूर्ति के विचारों

की समसामयिकता और लेखक के देहांत के बाद भी उसके विचारों की अविनश्वर्ता को रेखांकित करता है।

प्रोफेसर धर्मा कुमार का बौद्धिक रेखाचित्र इस संकलन में शामिल किया जाना थोड़ा अटपटा लगता है। यह दिवंगत गुरु को दी गई गुरु दक्षिणा की याद दिलाता है। दो लेख ऐसे हैं जिनको यहां शामिल करना समझ नहीं आता, इनमें से एक मार्क्सवादी इतिहासकार एरिक हॉब्स बॉम की तेजस्विता और कट्टरपंथी के अन्तर विरोध को उजागर करता है तो दूसरा बेनेडिक्ट एन्डरसन नामक आइरिश विद्वान पर फोकस करता है। एन्डरसन का जीवन इन्डोनेशियाई के अध्ययन में बीता था और जाहिर है कि रामगुहा की नज़र में वह पूरब और पश्चिम के बीच एक सहानुभूति से लबरेज सेतु के रूप में काम करते थे। शायद एरिक हॉब्स बॉम को यहां इसीलिए स्थान मिला है कि आजादी के बाद के भारत में मार्क्सवादी रूझान ही समाजशास्त्री अध्ययन और शोध को प्रभावित करता रहा है- पंडित नेहरू खुद को फेबियन बिरादरी का समाजवादी मानते थे और इंदिरा गांधी का समाजवादी विश्वदर्शन अपने पिता की तुलना में कहीं अधिक 'खालिस' नज़र आता है। श्रीमती गांधी पर अहंकारी तानाशाही, कुनबापरस्ती, भ्रष्टाचार के चाहे जितने गंभीर आरोप लगाए जाए इस बात को नकारना असंभव है कि उन्होंने उस राजनीति को गतिशील बनाया जिसने आम आदमी के मन में समतापूर्ण समाज की स्थापना के लिए आशाओं और



आकांक्षाओं का एक जबर्दस्त ज्वार पैदा कर दिया। उन्होंने न केवल बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया बल्कि रियासतों और रजवाड़ों का उन्मूलन भी किया। श्रीमती गांधी के शासनकाल में ही प्रतिबद्ध नौकरशाही और प्रतिबद्ध न्यायपालिका की बात गरमा-गरम बहस का विषय बन सकी थी। भारत को खाद्यानों के मामले में आत्मनिर्भर बनाना हो या सार्वजनिक क्षेत्र के औद्योगिक प्रतिष्ठानों के माध्यम से भारतीय तकनीकी क्षमता को बढ़ाना यह सब उस समाजवादी सोच और नुस्खे के अनुसार किए गए जिसकी साझेदारी तत्कालीन सोवियत संघ के साथ थी। मार्क्सवादी चश्मे से भारतीय इतिहास का शोध और पुनर लेखन भी नेहरू इंदिरा गांधी युग की ही विरासत है। अतः एरिक हॉब्स बॉम के विचारों से अपने पाठकों का साक्षात्कार कराना रामगुहा ने जरूरी समझा।

बात आगे बढ़ाने के पहले रामगुहा के बारे में उनके व्यक्तित्व-विचारों और बुनियादी सरोकारों के बारे में कुछ महत्वपूर्ण जानकारी की साझेदारी जरूरी है। राम की जिन किताबों का जिक्र ऊपर किया गया है उनके अलावा भी रामगुहा ने कुछ महत्वपूर्ण किताबें लिखी हैं जिनका संबंध इस पुस्तक की सामग्री और इसमें प्रकाशित 'नतीजों' के साथ अनिवार्यतः तलाशा जाना चाहिए। चिपको आन्दोलन पर लिखे शोध प्रबंध का शीर्षक था "अशांत जंगल" (अनक्वायट वुडज़) और इसके बाद ईसाई मिशनरी और आदिवासियों के सेवक वरियर अल्विन की जीवनी भी राम लिख चुके हैं इसका शीर्षक था "सेवेजिंग द नोबल" अंग्रेजी मुहावरे में आदिवासी को नोबेल सेविज कहा जाता है जो भले ही वनवासी हो और पहली नज़र में जंगली भी पर वास्तव में उसका चरित्र उदात्त होता है। अपने शोधकार्य के बाद गुहा ने प्रसिद्ध जीव वैज्ञानिक माधव गाडगिल के साथ भारत के पर्यावरण का एक इतिहास भी लिखा है।

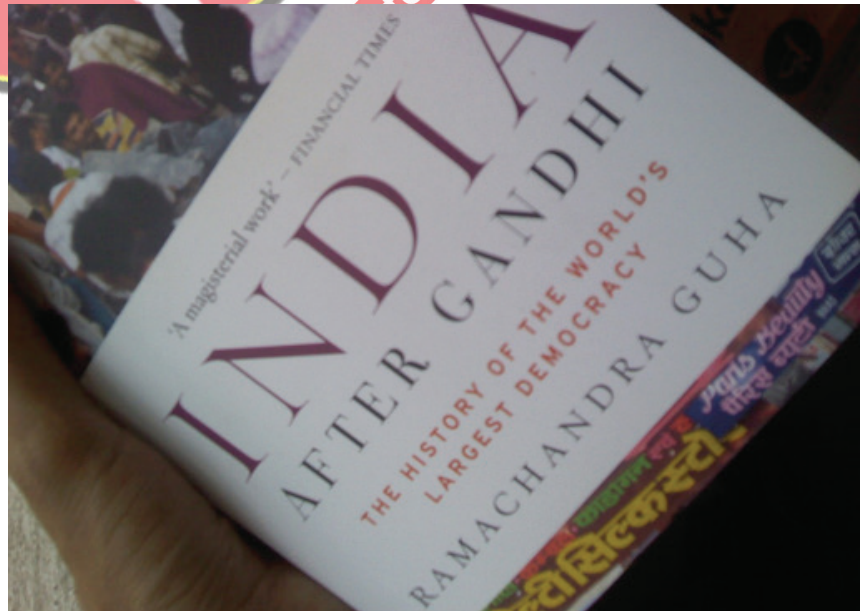
यह पुस्तक भले ही आम पाठक के लिए नहीं लिखी गई पर इसमें वह सूत्र साफ दिखलाई देता है जो प्रकृति के साथ आदिवासी के आत्मीय रिश्ते को उद्घाटित करता है और साथ ही हमें यह बात समझने में भी मद्दगार साबित होता है कि प्राकृतिक संसाधनों का सामूहिक हित में सामुदायिक

प्रबंधन विभिन्न आदिवासी समाज कितनी अच्छी तरह पारंपरिक रूप से करते आये हैं। यहां यह बात रेखांकित करने की जरूरत है कि यह मुद्दा सिर्फ आदिवासी समाज की जिंदगी तक सीमित नहीं बल्कि इसका घनिष्ठ संबंध जनतांत्रिक राजनीति से भी है।

रामगुहा भारत में आदिवासी जीवन की जिन त्रासदियों का जिक्र करते हैं उनमें से अधिकांश विकास की उस अवधारणा के कारण उत्पन्न हुए हैं जिसका आयात हमने आंख मूंदकर पश्चिमी देशों से या सोवियत संघ मित्र राज्यों से किया। भारत को जल्दी से जल्दी गरीबी से मुक्ति दिलाने के लिए नेहरू ने पंचवर्षीय योजनाओं का जो खाका तैयार किया उसमें बड़े उद्योगों को प्राथमिकता दी गई जिसकी परिणती क्रमशः खेती-बारी के ह्रास और शहरीकरण तथा पर्यावरण के विनाश में ही हो सकती थी। (सिर्फ पहली पंचवर्षीय योजना में ही कृषि को महत्वपूर्ण समझा गया मगर इसमें भी भीमकाय बांधों के निर्माण और बहुउद्देशीय बिजली परियोजनाओं की वजह से आदिवासी जीवन प्रभावित हुआ और पर्यावरण का क्षय आरंभ हुआ)। इसे विडंबना ही कहा जा सकता है वरीयर अल्विन जो आदिवासियों के हितैषी से आदिवासी मामलों में नेहरू के सबसे भरोसेमंद सलाहकार भी समझे जाते हैं। कई विद्वानों का मानना है कि वरीयर अल्विन की सलाह के कारण ही नेहरू ने आदिवासियों को-खासकर पूर्वोत्तरी

राज्यों के आदिवासियों को जानबूझ कर राष्ट्र की मुख्यधारा से अलग-थलग रखा। यों संविधान में उनके लिए आरक्षण का प्रावधान था पर निरक्षर-निर्धन, वनवासी या गिरिजन आदिवासी अपने इन अधिकारों का उपभोग करने में असमर्थ रहे और इसी कारण आज भी आज़दी के 70 वर्ष बाद भी पिछड़े हुए हैं, असंतोष और आक्रोश से भरे। अपने इस लेख में रामगुहा इस बात से अनभिज्ञ नहीं कि आदिवासी आबादी की संख्या देश की आबादी का एक बड़ा हिस्सा है- अल्पसंख्यक मुसलमानों या दलितों से कहीं ज्यादा, पर अलग-अलग क्षेत्रों में आदिवासियों की अलग-अलग पहचान के कारण यह तबका जनतांत्रिक राजनीति में एक असरदार वोट बैंक नहीं समझा जा सकता।

जवाहरलाल नेहरू बनाम जयप्रकाश नारायण वाली बहस भी एक तरह से नूराकुशती ही लगती है। रामगुहा कभी भी यह छुपाने का प्रयत्न नहीं करते कि वह नेहरूवादी-उदारवादी, सुधारवादी जनतांत्रिक विचारधारा के समर्थक हैं जो मार्क्सवादी विश्लेषण से प्रभावित तो हैं पर उन्हें भारत के हालात में गांधी, मार्क्स से कहीं अधिक महत्वपूर्ण और आज भी सार्थक नज़र आते हैं। यहां यह दाहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि दामोदर कौसाम्बी को वह बौद्ध ही नहीं, गांधी का शिष्य भी मानते हैं। जहां रामगुहा इस सहानुभूति के कारण एक नादान सरलीकरण करते नज़र आते हैं वह यह है जब



वह प्रमादवश या जानबूझकर उन गांधीवादियों को भुला देते हैं जो जवाहरलाल नेहरू के अलावा गांधी के वारिस समझे जा सकते हैं। समतापोषक समाज, सर्वधर्म समभाव या सत्ता के जनतांत्रिक विकेन्द्रीकरण के बारे में इनके सरोकार या संकल्प नेहरू से रत्तीभर कम नहीं समझा जा सकता। नेहरू बनाम पटेल या नेहरू बनाम सुभाष वाली बहस में भले ही नेहरू को अपने प्रतिपक्षी की तुलना में अधिक जनतांत्रिक साबित किया जा सके—जयप्रकाश नारायण के बारे में यह कहना असंभव है।

भारत की आजादी के साथ ही जयप्रकाश नारायण ने दलगत चुनावी राजनीति से सन्यास ले लिया था और जमीनी स्तर पर आम आदमी के जीवन में बेहतरी के लिए भूदान और सर्वोदय जैसे रचनात्मक जनांदोलन चलाए थे। वास्तव में जनतंत्र विषयक जिस बहस से रामगुहा साफ कन्नी काटते नज़र आते हैं वह जनतंत्र की पश्चिमी और भारतीय अवधारणाओं के बुनियादी टकराव का प्रश्न है। नेहरू की तरह महंगे अंग्रेजी स्कूल में और विश्वविद्यालयों में पढ़े-लिखे श्रेष्ठ वर्ग के सदस्य रामगुहा के लिए यह समझना आसान नहीं हो सकता कि जयप्रकाश और लोहिया जिस चौगंभा राज और ग्राम स्वराज की बात कर रहे थे वह नेहरू के पश्चिमी नमूने के वेस्ट मिनिस्टर मॉडल वाले विलायती जनतंत्र से बिलकुल फर्क है। यह बात खासी अटपटी इसलिए लगती है क्योंकि रामगुहा ने खुद एक पुस्तक पैट्रियट्स एण्ड पार्टीजान्स में राममनोहर लोहिया के लेखन के कुछ महत्वपूर्ण अंश उद्धृत किए हैं और एक संतुलित टिप्पणी भी उनके परिचय में लिखी है।

कुछ लोगों को लग सकता है कि हम रामगुहा के नेहरूमोह को अनावश्यक तूल दे रहे हैं मगर हम इस बात को जोर देकर दोहराना चाहते हैं कि आज के हिन्दुस्तान में जनतंत्र के संदर्भ में नेहरू की तुलना में कहीं अधिक महत्वपूर्ण विचार और विरासत जयप्रकाश नारायण, बाबा साहेब अम्बेडकर और राममनोहर लोहिया के हैं। यह बात कम अचरज की नहीं कि समाजशास्त्री रामगुहा आदिवासियों को लेकर तो निरंतर विचारमग्न रहते हैं पर हिन्दुस्तानी समाज में जाति की जकड़ और साम्प्रदायिकता के बारे में वह नेहरू के विचारों की तोतारटं

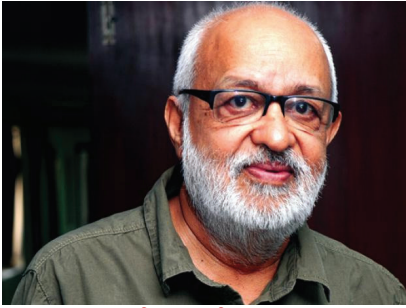
ही काफी समझते हैं। वह भले ही यह बात दो टूक नहीं कहते पर जिस तरह वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का अनायास राक्षसीकरण करते हैं उसके बाद इस्लामी कट्टरपंथी की प्रतिक्रिया में हिन्दुत्व के उदय या हिन्दुओं के तालिबानीकरण के तर्कसंगत विश्लेषण की आशा करना व्यर्थ हो जाता है।

यहां यह बात भी नहीं भुलाई जा सकती कि कभी कांग्रेस के नेता और राजीव गांधी के चहेते वीपी सिंह ने कांग्रेस से बाहर निकलने के बाद राम मंदिर निर्माण की रथयात्रा से पैदा उन्माद से अपनी जान छुड़ाने के लिए कमन्डल के मुकाबले मंडल का जिन्न बोटल से बाहर निकाला था। तब से अबतक आरक्षण की राजनीति ही भारत के जनतंत्र को बंधक बनाए हुए है। यदि भारतीय जनतंत्र की बहस जयप्रकाश नारायण के पक्ष में तय हुई होती तो संभवतः आज हम मूलहीन राजनीति के इतने बुरे शिकार नहीं बने होते। यह बात सिर्फ सैद्धांतिक नहीं है— भारत के पहले प्रधानमंत्री नेहरू का देहांत 1964 में हुआ। मगर वास्तव में उनकी सत्ता 1962 में चीन के हाथों करारी हार के बाद ही समाप्तप्राय हो गई थीं भले ही उनकी पुत्री ने वंशवादी जनतंत्र के जरिए नेहरू की याद पाठ्य पुस्तकों में जीवित रखी मगर निश्चय ही उन संवैधानिक संस्थाओं और जनतांत्रिक परंपराओं का अवमूल्यन किया जिनके संरक्षण के लिए रामगुहा की नज़र में नेहरू कृतसंकल्प थे। यहां इस बात का अवकाश नहीं और नहीं इसकी जरूरत है कि यहां इस बात को विस्तार से प्रमाणित किया जाए कि नेहरू वास्तव में कितने जनतांत्रिक थे और कितने तानाशाह। हम सिर्फ पाठकों का ध्यान इस ओर खींचना चाहते हैं कि वह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हो या सत्ता का विकेन्द्रीकरण अथवा संघीय व्यवस्था का आदर नेहरू किसी भी कसौटी पर खरे नहीं उतरते।

एक और बात की ओर ध्यान आकर्षित करने की जरूरत है। जब श्रीमती गांधी ने सत्ता संभाली तो इसे लाल गुलाब की वापसी कहा गया। अर्थात् नेहरू युगीन समाजवादी और उनके पसंदीदा जनतांत्रिक मॉडल की वापसी। वास्तव में सर्वशक्तिमान नेता के रूप में श्रीमती गांधी का कार्यकाल एक दशक तक ही सीमित रहा। आपातकाल के बाद

केन्द्र में पहली गैर कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ (अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन तो 1967-68 में ही हो चुका था)। जनता पार्टी की सरकार का नेतृत्व भले ही बुजुर्ग पुराने कांग्रेसी मोरारजी देसाई ने किया पर इसने जयप्रकाश नारायण के शिष्यों के भारतीय राजनीति में निर्णायक प्रवेश की घोषण भी कर डाली। यह बात सच है कि दो साल के अन्दर ही इस सरकार का पतन हो गया और श्रीमती गांधी एक बार फिर सत्ता में आई किन्तु इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि 1970 में नेहरू युग का निर्णायक रूप से अंत हो गया। श्रीमती गांधी की दूसरी पारी खालिस्तान और काश्मीर में अलगाववादी दहशतगर्दी चुनौतियों से ही जूझती रही और 1984 में उनकी हत्या के बाद जब राजीव गांधी ने सत्ताग्रहण की तो भारतीय जनतंत्र का स्वरूप आमूल-चूल बदल चुका था। उसके बाद से आजतक चुनावी राजनीति की उथल-पुथल फलस्वरूप केन्द्र में कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी दलों की रस्साकशी चलती रही है पर संपूर्ण क्रांति का नारा देने वाले जयप्रकाश नारायण के शिष्यों ने भारतीय जनतंत्र का चेहरा ही बदल डाला है। कुछ लोग इसे अशालीन या अराजकता को बढ़ावा देने वाला या उदङ्ण जातिवादी कह सकते हैं पर इसके अस्तित्व को असर को नकारा नहीं जा सकता।

कुल मिलाकर यह पुस्तक प्रतियोगी परीक्षाओं के छात्रों के लिए काफी उपयोगी है क्योंकि यदि पाठक लेखक की सीमाओं, सहानुभूतियों पक्षधरताओं को ध्यान में रखता है तो उसे एक ही जगह संक्षेप में बहुत सारी ऐसी जानकारी सुलभ होती है जो भारत के समाज और राजनीति के जटिल प्रश्नों की गुत्थी सुलझाने में उसकी मदद कर सकती है। यह बात हमें स्वीकार करनी ही होगी कि रामगुहा तथ्यों के साथ छेड़छाड़ नहीं करते और एक विषय को दूसरे विषय के साथ जोड़कर देखने समझने-समझाने की उनकी प्रतिभा असाधारण। उनकी लेखन शैली, उनकी पुस्तक को एक उपन्यास की तरह दिलचस्प बनाती है। अतः पाठक के लिए उनके विश्लेषण को ग्रहण करना कठिन नहीं। इसके आधार पर वह विभिन्न मुद्दों पर अपनी राय अपने विवेक के अनुसार बना सकता है।



प्रो. पुष्पेश पंत

सेकुलरिज़्म शब्द को लेकर जितनी गलतफहमी भारतीय राजनीति और सार्वजनिक जीवन में फैली है उतनी शायद किसी और शब्द को लेकर नहीं। इतना ही नहीं यह गलतफहमियां हिंसक उपद्रवों के विस्फोट का जोखिम तक पैदा करती नज़र आ रही हैं। अंग्रेजी के इस शब्द का सामान्यतः अनुवाद 'धर्मनिरपेक्षता' किया जाता है। अनेक विद्वानों को इससे आपत्ति है क्योंकि उनका मानना है कि भारतीय संदर्भ में रिलिज़न पश्चिम में प्रचलित इसकी परिभाषा से कहीं अधिक व्यापक और उदात्त है। जिस अर्थ में सेकुलर शब्द का प्रयोग राजनीति या सार्वजनिक जीवन में होता है यदि उसी की तरह का सोच रेखांकित करना हो तो पंथ निरपेक्ष शब्द कहीं अधिक सार्थक है। यह समस्या वास्तव में विकट है क्योंकि पश्चिम में धर्म और राज्य की सत्ता का विभाजन एक लंबी लड़ाई के बाद ही तय किया जा सका और इसका एक लंबा इतिहास है जिसे देशकाल निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। यूरोप में पोप की सत्ता को सर्वोच्च मानने से इंकार करने वाले असहमति का स्वर मुखर करने वाले प्रोटेस्टेंट सम्प्रदाय में शामिल हुए। और जिन ताकतवर शासकों ने पोप को अपने ऊपर संप्रभु सत्ता स्वीकार करने से इंकार किया उन्होंने राज्य और धर्म के अलग-अलग अधिकार क्षेत्र निर्धारित करने की पहल की। सांप्रदायिकता की परिभाषा यूरोपीय अनुभव में ईसाइयत और इस्लाम और फिर रोमन कैथोलिक संप्रदाय तथा प्रोटेस्टेंट संप्रदायों के परस्पर

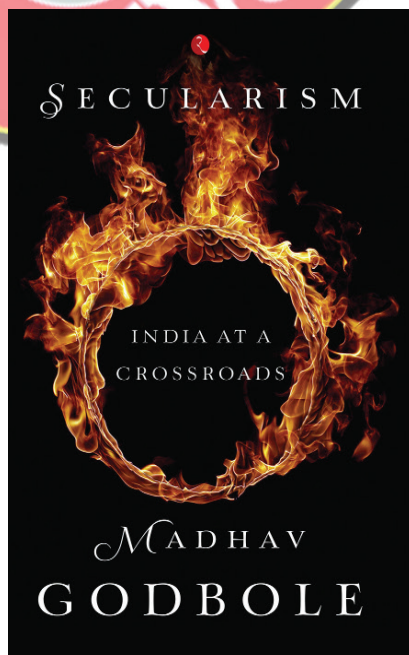
सेकुलरिज़्म इंडिया ऐट द क्रॉस रोड

लेखक: माधव गोडबोले

टकराव के आधार पर ही समझी-समझाई जाती रही है। भारत में यूरोपीय ताकतों के आगमन के पहले भी विभिन्न संप्रदायों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की लंबी परंपरा के बावजूद हिन्दू धर्म की ही विभिन्न संप्रदायों में मुठभेड़े होती रही हैं- हिन्दुओं बौद्धों और जैनों में ही नहीं, शैवों, शाक्तों तथा वैष्णवों के बीच भी हिंसक टकराव होते रहे हैं। मुसलमानों में भी शियाओं और सुन्नियों तथा बौद्धों में हीनयान और महायान के अनुयाईयों के बीच लड़ाई-झगड़ा होता रहा है। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही कुछ विद्वान यह तर्क संगत आपत्ति दर्ज करते रहे हैं कि भारत में जिस सेकुलरिज़्म की बात हम करते हैं वह उधार की अवधारणा है और पराए चश्मे से अपनी असलियत को साफ-साफ देखना असंभव है। उनके अनुसार अंग्रेजी में विमर्श के आदी बौद्धिक ज़्यादा से

ज़्यादा सूडो सेकुलर (छद्म धर्मनिरपेक्ष) ही कहला सकते हैं। अगर सेकुलरिज़्म लाखों लोगों के जीवन-मरण का प्रश्न नहीं होता तो शायद हमें इस बहस में उलझने की कोई दरकार नहीं होती। समस्या यह है कि भारत के विभाजन के बाद जो रक्तरंजित दंगे भड़के उनमें जाने कितनी मासूम जाने गंवाने के बाद भी यह समझ हमें नहीं आ सकी है कि राजनीति में धार्मिक कट्टरपंथी या सांप्रदायिकता को कोई स्थान नहीं और सेकुलरिज़्म वाली बहस को सिर्फ यह कहकर खारिज नहीं किया जा सकता कि यह एक पश्चिमी आयात है जो इस देश की मिट्टी में जड़े जमाकर पनप नहीं सकता।

जिस पुस्तक की समीक्षा की जा रही है उसका महत्व समझने के लिए एक ओर बात की ओर ध्यान दिलाना परमावश्यक है। वर्ष 2014 में मोदी के प्रधानमंत्री बनने के बाद से अनेक नागरिकों को यह चिंता सताने लगी है कि अब भारत एक धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र नहीं बचा रह सकता। मोदी, भाजपा और संघ परिवार के अन्य सदस्य भारतवर्ष को हिन्दू राष्ट्र के रूप में बदलने के लिए कसर कस रहे हैं। अनेक मुखर आलोचक यह आक्षेप लगा रहे हैं कि अल्पसंख्यकों के बुनियादी अधिकारों का उल्लंघन उनका उत्पीड़न निरंतर पिछले दो वर्षों में बढ़ा है। इसके साथ ही असहिष्णुता के हिंसक प्रसार को लेकर भी चिंता प्रकट की जाती रही है। लोगों का यहां तक मानना है कि नेहरू ने जिस नये समतापूर्ण आधुनिक भारत के सपने का साझा देशवासियों से किया था उसे ही नष्ट करने की साजिश सेकुलरिज़्म के विरोधी हिन्दुत्ववादी कर रहे हैं। दूसरे शब्दों में जो कोई भी सेकुलरिज़्म के बारे में सवाल उठाता है उसे सांप्रदायिक और जनतंत्र का विरोधी



फांसीवादी करार देना सहज है। इस संदर्भ में लोग अक्सर इस बात को भूल जाते हैं कि सेकुलर शब्द भारत के संविधान के आमुख में (प्रिफ़ेम्बल) में आपातकाल के दौरान ही जोड़ा गया। समाजवाद शब्द के साथ और भले ही श्रीमती गांधी पर आपातकाल में सत्ता के असंवैधानिक दुरुपयोग के आरोप लगाए जाते रहे हैं इस संवैधानिक संशोधन को लोग आंख मूंदकर स्वीकार करते आए हैं।

पुस्तक के लेखक निश्चय ही एक महत्वपूर्ण और संवेदनशील विषय को सार्वजनिक बहस का मुद्दा बनाने के लिए चुना है और इसके लिए वह निश्चय ही सराहना के पात्र हैं। लेखक इस चुनौती का सामना करने के लिए सुयोग्य और अनुभव का धनी है। आई.ए.एस से स्वेच्छा से समय के पहले अवकाश ग्रहण करने वाले गोडबोले भारत सरकार में गृहसचिव और विधि सचिव के रूप में काम कर चुके हैं इसके अलावा अनेक वर्ष तक वह विश्व बैंक में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भी तैनात रहे। वह अर्थशास्त्र में एम.ए. और पी.एच.डी हैं और एक अमेरिकी विश्वविद्यालय से भी एम. ए. की उपाधि अर्जित कर चुके हैं। इसके पहले वह अनेक चर्चित पुस्तकें लिख चुके हैं जिनमें से एक का विषय सुशासन और दूसरी का जवाहरलाल नेहरू की नीतियों और उनके काम-काज का मूल्यांकन है। गोडबोले अंग्रेजी और मराठी के समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में नियमित रूप से लेख लिखते और प्रकाशित करते रहे हैं। वह नेहरू युग की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करते हैं जो भारत की आजादी के समय तरुण थी और आजादी की लड़ाई और देश के विभाजन की त्रासदी की प्रत्यक्षदर्शी रही है। नेहरू युग का आदर्शवाद और बाद में नेहरू की नीतियों से मोहभंग के बावजूद उनका विश्वास और आस्था संविधान के प्रति अटूट है और विश्लेषण लेखन में किसी भी तरह की पक्षधरता का आरोप उन पर नहीं लगाया जा सकता।

पुस्तक 6 अध्यायों में बांटी गई है और भूमिका के रूप में लिखे 30 पृष्ठ भी एक स्वतंत्र अध्याय ही समझे जाने चाहिए। पहले अध्याय का उपशीर्षक है जिसे परिभाषित ही नहीं किया जा सकता उसे परिभाषित करने का प्रयास। दूसरा अध्याय अल्पसंख्यक

मानसिकता (माइनोरटीस सिन्ड्रोम) पर केन्द्रित है। तीसरा और चौथा अध्याय एक ही विषय पर केन्द्रित है और इन्हें एक ही शीर्षक दिया गया है। क्या यही धर्मनिरपेक्षता की पहचान या लक्षण है? इस सामग्री को दो भागों में बांटने का सिर्फ यही कारण नजर आता है कि पाठक एक बार में जितने तथ्य और विश्लेषण आसानी से ग्रहण कर सकता है उतनी ही पाठ्य सामग्री उसे परोसी जाए। पांचवा अध्याय समसामयिक चिंता का मुखर करता है कि कैसे हमारे समाज में लगातार धर्मनिरपेक्षता का क्षय हो रहा है। अंतिम और छठा अध्याय किसी एक नतीजे तक नहीं पहुंचता या पहुंचाता बल्कि उन अनेक संभावनाओं को टटोलता है जो निकट भविष्य में या तो सेकुलरिज़्म को मजबूत बना सकती है या इसे बिल्कुल ही खोखला कर अप्रसांगिक बनाने की आशंका पैदा करते हैं।

पुस्तक के प्रारंभिक अध्यायों में आजादी की लड़ाई के दौरान सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करने वाले देश-प्रेमियों द्वारा आजाद भारत में सर्व-धर्म समभाव और सद्भाव बढ़ाने के लिए इस अवधारणा की उपयोगिता विषयक विमर्श का सर्वेक्षण किया गया है। यहां यह रेखांकित करने की जरूरत है कि भले ही नेहरू जैसे नेता स्वयं को नास्तिक मानते थे राष्ट्रपिता बापू को यह घोषणा करने में कभी कोई हिचक नहीं होती थी कि वह हिन्दू है और व्यक्ति के नागरिक कर्तव्यों के पालन में असरदार नैतिकता के लिए धर्म की बुनियाद को अहमियत देते थे। बालगंगाधर

तिलक हो या योगी अरविन्द, समाज सुधारक विवेकानंद हो या कुछ अन्य लोकप्रिय नेता धर्म और राजनीति में कोई बैर नहीं समझते थे। इस संदर्भ में पाकिस्तान के प्रेरणा स्रोत इकबाल के कोमी तराने की पंक्तियां अक्सर उद्धृत की जाती हैं-मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना, हिन्दी है हम वतन है हिन्दोस्ता हमारा! दूसरी तरफ भगत सिंह बलिदान भी है जो अपने साम्यवादी विचारों के कारण धर्म को एक तरह का नशा समझते थे जो आधुनिक वैज्ञानिक सोच को कुंठित करता है और उत्पीड़न की ही मदद करते हैं।

इस पुस्तक का सबसे रोचक और दिलचस्प हिस्सा शायद वह है जिसमें संविधान निर्मात्री सभा की बहसों के आधार पर सेकुलरिज़्म या धर्मनिरपेक्षता को समझने-समझाने की कोशिश लेखक ने की है। उसने बड़ी निष्पक्षता के साथ यह बात उजागर की है कि भारत को हिन्दू राष्ट्र नहीं बल्कि एक धर्मनिरपेक्ष गणतंत्र बनाने के बारे में औरों को तो छोड़िए स्वयं कांग्रेसियों में भी सर्वसहमति नहीं थी। नेहरू बड़े जोशों-खरोश के साथ पश्चिमी नमूने के सेकुलरिज़्म के हिमायती थे और उनका यह मानना था कि इसके बिना भारत न तो समतापोषक राज्य हो सकता है और नहीं सांप्रदायिक सद्भाव के बिना उसका आर्थिक विकास निरापद रह सकता है। मगर उनके अनेक ऐसे वरिष्ठ सहयोगी थे- बाबू राजेन्द्र प्रसाद, पण्डित पुरुषोत्तमदास टंडन, गोविन्द बल्लभ पंत सरीखे जिन्हें ऐसा आस्थावान



हिन्दू माना जाता था जो अपने अंतर मन से सेकुलरिज़्म को अजनबी समझते थे। सरदार पटेल को भी नेहरू की तुलना में वामपंथी खेमा और समाजवादी तबका प्रतिक्रियावादी प्रच्छन्न हिन्दू समर्थक ही मानता था। यह सूची सिर्फ संकेतात्मक है, संपूर्ण नहीं। आने वाले वर्षों में नेहरू का टकराव प्रगतिशील समाजवादी रूझान के धर्मनिरपेक्ष कांग्रेसी खेमे का नेतृत्व करते वक्त प्रतिक्रियावादी कट्टरपंथी हिन्दू नेताओं के साथ निरंतर जारी रहा। यह मुठभेड़ कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी की अगुवाई में सोमनाथ मंदिर के पुनर्निर्माण और उसके उद्घाटन के अवसर पर तत्कालीन राष्ट्र राजेन्द्र प्रसाद के शामिल होने को लेकर एक गरम बहस का विषय बन चुका है। सिर्फ हिन्दू कांग्रेसी नेताओं की बात नहीं मौलाना आजाद और राजकुमारी अमृत कौर (जो ईसाई थी) का सोच भी नेहरू से काफी फर्क था। गोडबोले ने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि कई बार लोग नेहरू से मतभेद होने के बाद भी उनकी लोकप्रियता और करिश्माई व्यक्तित्व के कारण दब सहम कर चुप हो जाते थे। लेखक भले ही यह बात दोटूक नहीं कहता पर अनेक जगह यह संकेत करता है कि गांधी की हत्या के बाद आर.एस.एस और 'हिन्दुत्ववादी' अन्य ताकते कठघरे में खड़ी थी और धर्मनिरपेक्षता के खिलाफ मुंह खोलने का दुस्साहस करने वाले कम थे। जहां तक नेहरू का सवाल है इसमें संदेह नहीं कि पश्चिम में पढाई और पश्चिमी परवरिश के कारण नेहरू वास्तव में पश्चिमी सेकुलरिज़्म के हिमायती थे पर इसको भी नकारा नहीं जा सकता कि विभाजन के बाद भीषण रक्तपात ने उनको दहला दिया था और एक तरह के अपराधबोध से ग्रस्त भी कर दिया था।

लेखक ने इस पुस्तक में एक और महत्वपूर्ण बात की तरफ ध्यान दिलाया है। भारत के संदर्भ में जब भी अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग होता है तो इसका अर्थ यही निकाला जाता है कि हमारा तात्पर्य देश की आबादी के मुसलमान तबके से है। यह बात सच है कि मुसलमानों की संख्या कुल आबादी का लगभग 12-14 प्रतिशत है और वही सबसे बड़ा अल्पसंख्यक समुदाय है। उनकी संख्या दलितों से अधिक और लगभग

आदिवासी अनुसूचित जनजातियों के बराबर है। पर उनके अलावा कई अन्य धर्म के आधार पर अल्पसंख्यक समुदाय हैं मसलन सिख-ईसाई-बौद्ध-जैन और पारसी। भले इन सब का जोड़ भी नगण्य है अतिसूक्ष्म पर शायद इसीलिए इनके संरक्षण या इनके विशेषाधिकारों की संविधानिक व्यवस्था और भी अधिक संवेदनशील चुनौती पेश करती है। संविधान सभा की बहसों में न केवल मुसलमान सदस्यों ने बल्कि सिखो-ईसाई और बौद्धों ने भी अपने विशेष हितों की मांग उठाई थी। गोडबोले इस बात से भी बेखबर नहीं कि इस तरह की मांगों का प्रतिरोध स्वयं इन्हीं समुदायों के अधिक 'प्रगतिशील' सदस्यों के साथ-साथ संविधान का मसौदा तैयार करने वाले डॉक्टर अम्बेडकर ने भी किया था। लेखक इस बात को भी रेखांकित करता है कि भारत में धर्म के आधार पर ही नहीं भाषाई आधार पर भी अल्पसंख्यकों की पहचान की गई है और उन्हें विशेष दर्जा (कानून की नज़र में, कुछ मामलों में) दिया गया है।

सेकुलरिज़्म का विषय और अल्पसंख्यकों के विशेषरूप से संरक्षित संवैधानिक अधिकारों का मुद्दा काफी जटिल है। आजादी से आजतक के इतिहास में इसे और भी उलझा दिया है। यह संतोष का विषय है कि लेखक ने इसके अतिसरलीकरण का कोई प्रयास नहीं किया है और नहीं पुस्तक में संकलित सामग्री के चुनाव में जरा भी पूर्वाग्रह या पक्षधरता के दर्शन होते हैं। लेखक ने यह बात बारबार रेखांकित की है कि शैक्षिक या सांस्कृतिक अधिकारों को जो संरक्षण हमारे संविधान में दिया गया है वह अनिश्चितकाल के लिए नहीं दिया गया था। संविधान निर्माताओं ने यह आशा की थी कि समय बीतने के साथ विभिन्न कोटी के अल्पसंख्यक बहुसंख्यकों की बराबरी करने में समर्थ हो जाएंगे और इस तरह का आरक्षण या विशेष कानूनी प्रावधान गैर जरूरी साबित हो गया। यह आशा भी तब निराधार नहीं थी कि शिक्षा के प्रसार के साथ शहरीकरण और आर्थिक विकास के कारण सांप्रदायिकता का जहर घट जाएगा। दुर्भाग्य से दलितों के आरक्षण की तरह यह बात भी एक मरीचिका ही सिद्ध हुई है। सरकारी आंकड़े खुद इस बात को प्रमाणित करते हैं

कि शिक्षा हो या सरकारी नौकरियां, उद्यमिता या पेशेवर व्यवसाय कम से कम मुसलमान अल्पसंख्यकों की स्थिति में सुधार नहीं हुआ है बल्कि दुरदशा दयनीय ही कही जा सकती है। कुछ ऐसे महकमें हैं जैसे पुलिस और सेना जिनमें मुसलमानों का प्रतिनिधित्व और भी कम है- लगभग चिंताजनक। जब कभी सांप्रदायिक दंगों का विस्फोट होता है तो उन पर काबू पाने के लिए पुलिस या सहसैनिक दस्ते जो बलप्रयोग करते हैं उनके बारे में यह आक्षेप अक्सर जायज नज़र आता है कि इन कर्मियों की पक्षधरता बहुसंख्यक समुदाय के लिए होती है और इसी कारण वह अपना कर्तव्य पालन नहीं करने में असमर्थ रहते हैं। लेखक ने इस पुस्तक में उन अनेक विशेष समितियों का जिक्र भी किया है जो अल्पसंख्यकों की जिंदगी की हकीकत परखने के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर गठित की जाती रही है इनमें रंगनाथ मिश्रा आयोग और सच्चर आयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन आयोगों की रिपोर्टों का बेहद उपयोगी सार-संक्षेप इस पुस्तक में उपलब्ध है।

लेखक नेहरू का प्रशंसक तो है और नेहरू द्वारा परिभाषित सेकुलरिज़्म का पक्षधर भी। मगर वह इस बात को बेहिचक स्वीकार करता है कि यदि आज आजादी के 6 दशक बाद भी अल्पसंख्यक मुसलमानों की दशा इतनी सोचनीय है तो इसका सारा दोष हिन्दुत्ववादी फासियों को नहीं डाला जा सकता। क्योंकि इस देश में अधिकांश समय तक नेहरू के उत्तराधि कारियों और कांग्रेसियों ने ही शासन किया है। इस सिलसिले में दो बातें खासतौर से याद रखने लायक हैं। अल्पसंख्यकों के हितों की रखवाली और उनको न्याय दिलाने के लिए गठित अल्पसंख्यक आयोग की स्थापना कांग्रेस के कार्यकाल में नहीं बल्कि एन.डी.ए के कार्यकाल में ही की गई थी। इसके अलावा जब सर्वोच्च न्यायालय के एक फैसले ने तलाक के बाद एक असहाय मुस्लिम महिला को जिंदगी बसर करने के लिए भत्ता दिलाने का आदेश दिया तो इस फैसले को संवैधानिक संशोधन द्वारा निरस्त करने का काम राजीव गांधी की सरकार ने ही किया था। इसी शाहबानों वाले मामले में राजीव मंत्री मंडल के एक सदस्य आरीफ

मुहम्मद खान ने इस्तीफा दे दिया था। कई लोगों का मानना है कि राजीव स्वयं चुनावी लाभ के लिए कोमल हिन्दुत्व की नीति के पक्षधर थे उन्हीं के निर्देशानुसार रामजन्म भूमि स्थान पर बाबरी मस्जिद परिसर में लगे ताले खोले गए थे। इसके अलावा यह बात भी याद रखने लायक है कि हाल के वर्षों में जितने भी जघन्य सांप्रदायिक दंगे हुए हैं उनके बाद न्यायिक जांच अधिकांश मामलों में कांग्रेस द्वारा केन्द्रशासित काल में ही हुई है और यह बात समझ नहीं आती कि श्रीकृष्ण आयोग जैसे प्रकरणों में भी अपराधियों को दंडित करने की न्यायिक कार्यवाही एक निश्चित समय-सीमा के भीतर क्यों नहीं की जा सकी है? गुजरात का गोधरा कांड कुख्यात हो चुका है पर जब कभी इसका उल्लेख होता है तो लोगों को 1984 के वंशनाशक सिख विरोधी दंगे अनायास याद आने लगते हैं। यह सवाल उठाना नाजायज है कि क्या सिखों का अमानुषिक नरसंहार हिन्दू-मुसलमान दंगों की तुलना में कम शर्मनाक या दंडनीय अपराध समझा जा सकता है।

माधव गोडबोले ने इस पुस्तक में उन सभी कानून के जानकारों और राजनीति शास्त्र के विद्वानों के सेकुलरिज़्म संबंधी विचारों को पाठकोपयोगी तरीके से एक स्थान में संकलित किया है जो निश्चय ही बेहद उपयोगी है। उदाहरणतः सबसे चर्चित विश्लेषक ए.जी. नूरानी और असगर अली इंजिनियर माने जाते हैं। इनके अलावा उपेन्द्र बख्शी और प्रताप भानु मेहता तथा प्रोफेसर आशुतोष वाष्णय जैसे स्तंभकारों की प्रमुख रचनाओं की टिप्पणियां भी यहां एक जगह प्रस्तुत की गई हैं। चूंकि लेखक पुस्तक के पहले अध्यायों में संविधान निर्माण सभा के समय से आज तक इस विषय का सर्वेक्षण प्रस्तुत कर देता है अतः पाठक के लिए समसामयिक चुनौती को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझना बहुत सहज हो जाता है। थोड़ी सी शिकायत जो बची रहती है वह यही है कि जहां लेखक धर्म या पंथ निरपेक्षता के पक्ष में सभी तर्कों और तथ्यों का विवेचन विस्तार से करता है वह प्रतिपक्ष के विचारों को बहस के लिए भी उतनी जगह नहीं देता जिसकी दरकार है।

यह कहना इसलिए जरूरी है कि यदि आज 21वीं सदी के दूसरे दशक में

सेकुलरिज़्म एक ऐसा सुलगता सवाल है जो देश की एकता और अखण्डता के लिए बहुत बड़ा जोखिम पैदा कर रहा है तो हमें यह बात जांचने-परखने की जरूरत है कि क्यों आज की नौजवान शिक्षित पीढ़ी कट्टरपंथी हिन्दुत्वादी राजनैतिक ताकतों का विरोध नहीं कर रही। 2014 के लोकसभा चुनावों के बारे में यह कहा जाता रहा है कि मोदी और भाजपा के पक्ष में ध्रुवीकरण के कारण भी धर्मनिरपेक्ष शक्तियों की जीत संभव हुई थी। इस नतीजे पर सवाल उठाने के पहले यह सुझाना जायज है कि बहुसंख्यक हिन्दुओं का ध्रुवीकरण क्या इसीलिए नहीं हुआ है कि एनडीए के पहले वाली सभी सरकारों ने अल्पसंख्यक मुसलमानों के तुष्टीकरण की नीति अपनाई जिससे बहुसंख्यक समुदाय में यह भावना घर कर गई है कि उनके साथ कोई धर्मनिरपेक्ष सरकार न्याय नहीं कर सकती। उनका पारिवारिक कानून हो या धार्मिक स्थानों का प्रबंधन सरकार उनमें हस्तक्षेप करने से कतराती-घबराती नहीं जबकि अल्पसंख्यक समुदाय से संबंधित हर विषय को अति संवेदनशील माना जाता है। इस बात को आसानी से खारिज नहीं किया जा सकता क्योंकि पंजाब में खालिस्तानी, अलगाववाद और आतंकवाद की शुरुआत भी राजनैतिक तुष्टीकरण से ही आरंभ हुई थी।

पुस्तक का अंतिम भाग जो सबसे अधिक तर्कसंगत है वही सबसे अधिक आशंकाएं भी पैदा करता है। आगे की राह को टटोलते हुए गोडबोले जिस तरह के सुधार सुझाते हैं उनके बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि आने वाले एक-दो दशक में इस दिशा में कोई सार्थक शुरुआत हो सकती है। गोडबोले का पहला सुझाव अखिल भारतीय स्तर पर प्रशासनिक सुधारों को लागू करने का है और दूसरा चुनाव संबंधी कानूनों में सुधार करने का। यह बताने की जरूरत नहीं होनी चाहिए कि बरसों से यह दोनों बातें कही जाती रही हैं। मगर दोनों ही जगह मजबूत निःस्वार्थ भावना इस इरादे को नाकाम कर देते हैं। जबतक कानून बनाने वाले भ्रष्ट और संप्रदायिक संकीर्णता या जातिगत वैमनस्य से मुक्त नहीं तबतक यह कल्पना करना व्यर्थ है कि वह ऐसा कोई कानून पारित करेंगे या लागू होने देंगे जो स्थिति में सुधार ला सकता है। दूसरी तरफ

नौकरशाहों की एक बड़ी जमात है जो अपने विशेषाधिकारों को निरापद रखने के लिए किसी भी ऐसे प्रशासनिक सुधार को लागू नहीं होने देगी जो आम नागरिकों के हितों की रखवाली करता हो।

कुछ और 'आशाएं' ऐसी हैं जिन्हें आज के भारत में निर्मूल या अतिशय आशावादी ही कहा जा सकता है। गोडबोले को लगता है कि बहुत कुछ हासिल हो सकता है अगर अल्पसंख्यकों के मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड या औकाफ का प्रबंध करने वाले समय के अनुसार अपने सोच को बदलने के लिए तैयार हो जाए। उन्हें यह भी लगता है कि अल्पसंख्यकों के लिए शिक्षा और सांस्कृतिक विशेषाधिकारों को जारी रखने से अलगाववादी प्रवृत्ति बढ़ी है इसने भावनात्मक एकता को रत्तोभर पुष्ट नहीं किया है। इन दोनों की संभावना और भी कम है।

इस समीक्षक का मानना है कि गोडबोले जिस पीढ़ी के प्रतिनिधि है वास्तव में उसका कोई संवाद आज के हिन्दुस्तान की नौजवान पीढ़ी के साथ शेष नहीं रह गया है चाहे वह अल्पसंख्यक हो या बहुसंख्यक। भारतीय जनतंत्र में पहचान की राजनीति इतनी बुरी तरह हावी हो चुकी है कि इससे छुटकारा पाना तो दूर की बात है बंद दिमाग वालों के साथ शांतिपूर्ण संवाद सुलह-समझौता कठिन होता जा रहा है। यह समस्या सिर्फ धार्मिक या जातिगत उत्पीड़न से नहीं पैदा हुई है इसकी जड़ में आर्थिक विषमता और पितृसत्तात्मक सामंतशाही जनित सामाजिक अन्याय है। शहरी और देहाती भारत का अन्तर तो दर्दनाक है ही भाषाई और क्षेत्रीय पक्षधरता तर्कसंगत राजनीति का अवमूल्यन करती रहती है। यदि सेकुलरिज़्म की समस्या का स्थाई समाधान होगा तो इसे यह नई पीढ़ी, जो आज के भारत की आबादी का आधे से अधिक हिस्सा है एक नये सामाजिक अनुबंध के आधार पर ही करेगी। हम यही आशा करते हैं कि गोडबोले का श्रम व्यर्थ नहीं जाएगा और अपनी राय बनाने के पहले वह इस पुस्तक को पढ़ेंगे जरूर। प्रतियोगी परीक्षा के उम्मीदवारों के लिए यह पुस्तक खासतौर पर उपयोगी है और हम यह आशा करते हैं कि इसके कुछ हिस्सों का सारांश हिन्दी पाठकों के लिए शीर्ष सुलभ होगा।



मणिकांत सिंह

इस पुस्तक का लेखक पहले भी अपनी एक पुस्तक के कारण बहुचर्चित रहा है जिसका शीर्षक था द एक्सिडेंटल प्राइमिनीस्टर द मेकिंग एण्ड अनमेकिंग ऑफ मनमोहन सिंह। जिसका सहज अनुवाद संयोगवश बना प्रधानमंत्री: मनमोहन सिंह का उत्थान और पतन ही किया जा सकता है। इस पुस्तक के विवादास्पद होने के कई कारण थे। संजय बारू अपने स्तीफा देने तक मनमोहन सिंह के मीडिया सलाहकार के रूप में काम करते रहे थे और चूंकि इस पुस्तक में पूर्व प्रधानमंत्री की कार्यशैली, स्वभाव, स्वाभिमान और इच्छाशक्ति के बारे में ऐसी आलोचनात्मक टिप्पणियां की गई थी जिनसे ऐसा लगता था कि संजय बारू उसी पत्तल में छेद कर रहे थे जिसमें अबतक वह भोजन करते रहे थे। हमारी समझ में यह लांछन निराधार है क्योंकि संजय बारू ने तभी अपना स्तीफा दे दिया था जब उन्हें यह लगने लगा था कि मनमोहन सिंह एक कमजोर व्यक्ति है और उनके साथ काम करते रहना अधिनस्त कर्मचारियों और सहयोगियों के लिए भी नैतिक और कानूनी संकट पैदा कर सकता है।

यू.पी.ए. 2 के कार्यकाल में जिन-जिन दैत्याकार घोटालों का पर्दाफाश हुआ उनके परिप्रेक्ष्य में यह आशंका जायज ही लगती है। राष्ट्रकुल खेलों के आयोजन के प्रसंग को अगर पलभर के लिए हाशिए पर भी रख दे तब भी कोलगेट और 2-जी टैलिकॉम स्पेक्ट्रम घोटाले में मनमोहन सिंह को बेदाग और निर्दोष मानने वाले बहुत कम हैं और वह आज भी कठघरे में ही खड़े नज़र आते

1991

हाऊ पी.बी. नरसिंह राव मेड हिस्ट्री

लेखक: संजय बारू

हैं। संजय बारू ने अपनी उस पुस्तक में इस बात का उल्लेख भी किया है कि कैसे अपनी स्वामी-भक्ति के कारण मनमोहन सिंह सोनिया या राहुल गांधी के आदेशों और निर्देशों को नकारने या टालने का दुस्साहस नहीं कर सकते थे और इसी कारण अपने सिद्धांतों और नैतिक मूल्यों की कुर्बानी निरंतर देते रहने को मजबूर हुए थे। जिस एक घटना का उल्लेख कई जगह किया गया वह प्रधानमंत्री सचिवालय में सोनिया की इच्छानुसार तैनात किए गए आई.ए.एस. अधिकार तुलक विश्वास के माध्यम से मनमोहन सिंह के काम-काज की निगरानी वाला है। तुलक विश्वास के जरिए ही उन सरकारी फाइलों को रेसकोर्स रोड से नंबर दस जनपद तक अनौपचारिक रूप से मंगवाया जाता था जिनको देखने का कोई कानूनी अधिकार कांग्रेस अध्यक्षा के पास नहीं था।



1991

HOW P. V. NARASIMHA RAO MADE HISTORY

SANJAYA BARU

Bestselling author of *The Accidental Prime Minister: The Making and Unmaking of Manmohan Singh*

बहरहाल इस पुस्तक का इस समीक्षा में जरा विस्तार से उल्लेख इसलिए बेहद जरूरी है कि लेखक धारावाहिक, 'स्वामिद्रोही' नहीं है और नहीं उसे सरकारी गोपनीय जानकारी के दुरुपयोग का दोषी ठहराया जा सकता है। प्रधानमंत्री का मीडिया सलाहकार बनने के पहले से ही संजय बारू की पहचान एक जिम्मेदार सतर्क नागरिक, विद्वान प्राध्यापक और अन्तर्राष्ट्रीय अनुभव से संपन्न सार्वजनिक बौद्धिक वाली रही है। संजय बारू नेहरू विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में शोध करने के बाद हैदराबाद केन्द्रीय विश्वविद्यालय में 10 वर्ष तक पढ़ा चुके हैं इसके अलावा वह फिनेन्शियल एक्सप्रेस, बिजनेस स्टेन्डर्ड तथा टाइम्स ऑफ इंडिया में संपादक रह चुके हैं।

भारत के आर्थिक प्रदर्शन के सामरिक प्रभाव पर उनकी एक पुस्तक चर्चित रही है और वह सिंगापुर के लिक्वान यू इन्स्टीट्यूट पब्लिक पॉलसी में भी प्रोफेसर रह चुके हैं। यह बात याद रखने लायक है कि सभी आत्मविश्वास संपन्न जनतांत्रिक देशों में राष्ट्रपति या प्रधानमंत्री के साथ कामकर चुके बौद्धिक सेवामुक्त होने के बाद अपने अनुभवों का साझा अन्य नागरिकों के साथ करते हैं और राजकाज के अपने अनुभवों को प्रकाशित कराने में कोई संकोच नहीं बरते। अतः इस पुस्तक को इसी कसौटी पर जांचा जाना चाहिए। 1991 एक छोटी सी पुस्तक है वास्तव में इसकी पृष्ठसंख्या मात्र 160 है- शेष पन्ने आभार और एक लंबे परिशिष्ट में नरसिंह राव का कांग्रेस के तिरूपति अधिवेश के पूरे अध्यक्षीय भाषण शामिल किया गया है। बात आगे बढ़ाने के पहले शुरू में ही एक और सवाल उठाना शायद जरूरी है। मनमोहन सिंह की

ही तरह नरसिंह राव के साथ भी लेखक के करीबी रिश्ते रहे हैं और इस बार वह पारिवारिक और आत्मीय भी कहे जा सकते हैं। संजय बारू के पिता आन्ध्र प्रदेश में आई.ए.एस. अफसर के रूप में लंबे समय तक नरसिंह राव के साथ काम कर चुके थे उन वर्षों में भी जब तक वह मुख्यमंत्री नहीं बने थे। संजय के पिता को नरसिंह राव अपना विश्वासपात्र, सलाहकार मानते रहे और संजय के लिए भी वह पिता के मित्र ही नज़र आते रहे। मनमोहन सिंह की ही तरह पी.वी. नरसिंह राव भी ऐसे कांग्रेसी प्रधानमंत्री थे जो नेहरू गांधी परिवार के सदस्य नहीं थे मगर इसके बावजूद उन्होंने अपना पांच साल का कार्यकाल पूरा किया।

विडंबना यह है कि भले ही राव ने अपना कार्यकाल 'बखूबी' पूरा किया जब भी इस दौरान कई ऐसी घटनाएं घटी जिनसे उनकी छवि बुरी तरह कलंकित हुई, प्रवासी भारतीय अचार निर्माता लखुभाई पाठक ने उन पर व्यक्तिगत घूसखोरी का आरोप लगाया, उनके एक पुत्र का नाम यूरिया घोटाले में लिप्त होने के कारण विवादास्पद हुआ तो शेयर मार्केट जालसाजी में कुख्यात हर्षद मेहता के नोटों से भरे एक सूटकेस को लेकर प्रधानमंत्री आवास में पहुंचने में कम तहलका नहीं मचाया। आरंभिक दौर में राव की कांग्रेस सरकार को स्पष्ट बहुमत नहीं मिल सका था और लोकसभा में बहुमत हासिल कर अपनी सरकार को निरापद रखने के लिए राव ने जो 'चाणक्य' नीति अपनाई उसका विस्फोट झारखण्ड मुक्ति मोर्चा सांसद घूसखोरी घोटाले के विस्फोट में हुआ। यहाँ इस प्रकरण का विस्तार से न्यायिक विश्लेषण संभव नहीं बस उल्लेखभर इसलिए जरूरी है कि यह बात समझाई जा सके कि भले ही राव ने अपना कार्यकाल पूरा तो किया पर यह उपलब्धि जैसे-तैसे ही संभव हुई और पी.वी. को एक दूसरी 'उपलब्धि' के लिए भी अपवाद समझा जाना चाहिए वह प्रधानमंत्री के रूप में न्यायालय के द्वारा तलब किए जाने वाले पहले प्रधानमंत्री बने।

वास्तव में जिस घटना ने नरसिंह राव को सबसे ज्यादा निकम्मा साबित किया वह बाबरी मस्जिद का ध्वंस था। 6 दिसम्बर 1992 को जब संकट चरम सीमा पर था

तब भारत के प्रधानमंत्री राव साहब अचानक लापता थे जिनतक कोई खबर या सूचना नहीं पहुंचाई जा सकती थी, जिनसे कोई दिशा-निर्देश प्राप्त किया जा सकता था। बाद में तरह-तरह की सूचनाएं मिली कि राव उस वक्त पूजा कर रहे थे या ध्यान समाधि में अथवा उनका यह मानना था कि शांति और सुव्यवस्था बनाए रखने की प्राथमिक जिम्मेदारी उत्तर-प्रदेश सरकार की थी और उन्हें जो आश्वासन इस बारे में उन्हें उत्तर-प्रदेश के मुख्यमंत्री ने दिया था उस पर भरोसा ना करने का कोई कारण नहीं था। अनेक विश्लेषकों का ऐसा मानना है कि राव बाहर से भले ही कितना ही धर्मनिरपेक्ष क्यों ना बनते हो वह भीतर से आस्तिक हिन्दू थे और उनकी सहानुभूति रामभक्त कार सेवकों के साथ थी। उनके कार्यालय में कार्यरत कुछ कर्मचारियों के बारे में यह आक्षेप लगाया जाता रहा कि वह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से जुड़े थे। 1991 में इस बात का बखान किया गया है कि कैसे नरसिंह राव ने इतिहास रचा। पर इन तमाम ऐतिहासिक वारदातों का नाममात्र का ही उल्लेख है।

संजय बारू को इस बात का दोष नहीं दिया जा सकता कि उन्होंने ऐसा क्यों नहीं। अभी हाल में नरसिंह राव की एक विचारोत्तेजक जीवनी प्रकाशित हुई है जिसका शीर्षक है हाफ लायन। इस पुस्तक के लेखक विनय सेनापति को राव परिवार ने उनके निजी कागजातों का इस्तेमाल करने की अनुमति दी थी जो अबतक किसी और को देखने को नहीं मिली है। विनय सेनापति ने उन तमाम प्रसंगों का विस्तार से बेहतरीन तटस्थ वर्णन और विश्लेषण किया है जिनको दोहराने की कोई जरूरत बारू ने नहीं समझी है। सेनापति की पुस्तक का उपशीर्षक है राव ने कैसे भारत का कायाकल्प किया और बारू की किताब का उपशीर्षक है राव ने कैसे इतिहास रचा अर्थात कही ना कही इन दोनों पुस्तकों की विषय-वस्तु में साम्य तो है और लेखकों के नज़रिए में भी, पर शायद इन दोनों रचनाओं को परस्पर पूरक सामग्री के रूप में देखा जाना चाहिए। बारू की ही तरह सेनापति का दृष्टिकोण राव के प्रति सहानुभूतिपूर्ण तो है पर वह किसी भी पूर्वाग्रह और पक्षधरता से पूरी तरह मुक्त

रहकर अपनी लेखकीय जिम्मेदारी का निर्वाह करने में सफल रहे हैं।

भले ही संजय बारू बार-बार यह सफाई देते नज़र आते हैं कि यह पुस्तक नरसिंह राव पर नहीं लिखी गई है बल्कि इसका विषय 1991 का वर्ष है जो न केवल भारत के लिए बल्कि दुनियाभर के लिए कई मामलों में असाधारण समझा जा सकता है। भारत के संदर्भ में इस वर्ष पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गांधी की निर्मम हत्या हुई और नरसिंह राव के प्रधानमंत्री बनने के बाद आर्थिक सुधारों में नई गति पकड़ी। अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष में यह वह वर्ष है जब सोवियत संघ का विघटन और विखण्ड संपन्न हुआ और एक मायने में शीत युद्ध की समाप्ति साम्यवादी खेमे की निर्णायक हार के साथ जगजाहिर हो गई। जहाँ तक संजय बारू का मानना है वास्तव में आर्थिक सुधारों की शुरुआत ही नरसिंह राव के प्रधानमंत्री बनने के बाद हुई। भले ही राजीव गांधी ने आपने कार्यकाल में अपने नाना और माता की समाजवादी नीतियों को तिलांजलि देने का काम आरंभ कर दिया था उन्होंने इस काम में कोई खास दिलचस्पी नहीं दिखाई थी।

संजय बारू का मानना यह भी है कि अपने शासनकाल के अंतिम दो-ढाई वर्षों में राजीव की हालत लंगड़ी बतख जैसी ही हो गई थी और वह वास्तव में अर्थव्यवस्था में कोई निर्णायक बदलाव लाने की स्थिति में नहीं थे। संजय बारू जिस एक बात को जोर देकर दोहराते हैं वह यह है कि भले ही अधिकांश लोगों की धारणा यह है कि आर्थिक सुधारों का सूत्रपात अर्थशास्त्री मनमोहन सिंह या चिदम्बरम ने किया वास्तव में फैसला करने वाले और इस पथ पर डटे रहने का काम नरसिंह राव ने ही कर दिखाया। अपनी दलील के पक्ष में वह एक पुख्ता प्रमाण के रूप में उस औद्योगिक नीति का विस्तार से वर्णन करते हैं जिसे नरसिंह राव ने अपनी उद्योग राज्यमंत्री हुरियन के माध्यम से संसद में पेश किया था।

इसी सिलसिले में संजय बारू 1991 के अप्रत्याशित नाटकीय घटनाओं, दुर्घटनाओं से भरे इस वर्ष के बारे में एक और बात की याद दिलाते हैं जो अक्सर भुला दी जाती है। राजीव गांधी की हत्या मई में चुनाव

अभियान के दौरान हुई थी और राव ने सत्ता ग्रहण जून के महीने में की अर्थात् लगभग आधा साल तक भारत के प्रधानमंत्री के रूप में न तो राजीव काम कर रहे थे और नहीं राव की ताजपोशी हुई थी। इस वर्ष के पूर्वाद्ध में भारत के प्रधानमंत्री के रूप में चन्द्र शेखर विराजमान थे और जिनको अपदस्त करने की राजीव की साजिश से ही नये चुनाव अनिवार्य हो गए। आज जब भारत का विदेशी मुद्रा का भण्डार इतना विपुल है हम यह बात भूल जाते हैं कि 1991 में हमारी हालत कितनी खस्ता थी और भारत की अन्तर्राष्ट्रीय साख को बचाए रखने के लिए हमारी सरकार को अपना सोना तक गिरवी रखना पड़ा था। विडंबना यह है कि भले ही इस काम के लिए चन्द्र शेखर को जिम्मेदार ठहराया जाता है भारत को इस स्थिति तक पहुंचाने की जिम्मेदारी चन्द्र शेखर की नहीं पूर्ववर्ती सरकारों की ही थी जिनमें स्वयं राजीव-कांग्रेस की सरकार को निर्दोष नहीं ठहराया जा सकता। विदेशी मुद्रा के इस संकट ने ही वह खतरे की घण्टी बजाई जिसके बाद आर्थिक सुधारों को टालना लगभग असंभव हो गया था। इसी तर्क के आधार पर बारू यह प्रमाणित करने की कोशिश करते हैं और काफी हद तक कामयाब भी कहे जा सकते हैं कि वास्तव में आर्थिक सुधार, उदारीकरण आदि जुलाई के बाद ही आरंभ हुए।

पुस्तक कुल आठ अध्यायों में बांटी गई है जिनका नामकरण महीनों के आधार पर किया गया है: जनवरी: राजनीति, मार्च:संकट, मई:चुनाव, जून:सरकार, जुलाई:सुधार, नवंबर:पार्टी, दिसंबर: विश्व, आठ: बीच का रास्ता। इस सूची पर सरसरी नज़र डालते ही यह बात पता चल जाती है कि भले ही बहुत मेहनत से संजय यह कोशिश करते रहे हैं कि उनकी पुस्तक का विषय नरसिंह राव नहीं बल्कि 1991 का साल है। मगर घुमा-फिरा के साल के उन्हीं हिस्सों पर मुख्यतः केन्द्रित है जिनमें राव के पक्ष में गवाही या सफाई दी जा सकती है या जिन उपलब्धियों का श्रेय मुख्यतः राव को दिया जा सकता है। यहां तत्काल यह बात जोड़ने की जरूरत है कि बारू चन्द्र शेखर को विदेशी मुद्रा संकट समाधान का पूरा श्रेय देते हैं। पाठक के

लिए इसके बावजूद यह समझना कठिन है कि अगर यह किताब वास्तव में 1991 के ऐतिहासिक महत्व के कारण लिखी गई है तो भारत केन्द्रित होने के बावजूद क्यों इस कैलेंडर से फरवरी, अप्रैल, अगस्त, सितम्बर अक्टूबर के महीने नदारद है? क्या दुनियाभर में कहीं कुछ ऐसा नहीं घट रहा था जो भारत को प्रभावित कर सकता है या नरसिंह राव के इतिहास रचने में सहायक या बाधक हो सकता था?

पुस्तक का सबसे रोचक हिस्सा शायद चौथा छोटा सा अध्याय है जिसमें कांग्रेस संसदीय दल का नेता चुने जाने के बाद नरसिंह राव के नेतृत्व में सरकार के गठन का किस्सा बयान किया गया है। सबसे मजेदार और कुछ-कुछ हास्यास्पद बात यह है कि अबतक नरसिंह राव को प्रधानमंत्री बनाने का श्रेय कई लोग ले चुके हैं। इनमें पूर्व राष्ट्रपति वेंकट रमन और शरद पवार शामिल हैं। संजय बारू बड़ी मेहनत से और विस्तार से यह समझाते हैं कि वास्तव में किसी ने नरसिंह राव को प्रधानमंत्री नहीं बनवाया यह सोचकर कि वह भविष्य में उनके हाथ का कठपुतला बने रहेंगे बल्कि उस समय कि परिस्थिति को देखते हुए नरसिंह राव के अलावा इस पद के लिए कोई दूसरा विकल्प था ही नहीं। इसी संदर्भ में इस अध्याय में और अन्यत्र भी वह नरसिंह राव को अन्य दावेदारों की तुलना में सर्वगुण संपन्न और सर्वश्रेष्ठ प्रमाणित करने की चेष्टा भी करते हैं। उन्होंने इस सिलसिले में कई ऐसी बातें दोहराई हैं जो सर्वविदित हैं। राव इंदिरा गांधी के मित्रमंडल

में कैबिनेट मंत्री रह चुके थे और राजीव के मंत्रिमंडल में भी। वह गृहमंत्री, विदेश मंत्री और मानव संसाधन मंत्री के रूप में काम करने के अलावा आन्ध्र-प्रदेश जैसे बड़े राज्य के मुख्यमंत्री की जिम्मेदारी भी निभाए चुके थे। वह पढ़े-लिखे व्यक्ति थे और आधा दर्जन भारतीय भाषाएँ अच्छी तरह बोल-समझ सकते थे। वह एक समर्थ लेखक थे और विभिन्न स्तर पर सरकारी अधिकारियों के साथ ताल-मेल बैठा सकते थे। कांग्रेस संगठन की कार्य प्रणाली परंपराओं से वह सुपरिचित थे। सौपी गई जिम्मेदारी को पूरा करने और चोटी पर बैठे नेता के हर आज्ञा का एक अनुशासित सिपाही की तरह पालन करने की कला में वह माहिर थे। कुल मिलाकर वह एक यथार्थवादी व्यक्ति थे जिन्हें उनके आलोचक अबसरवादी बहती बयार के साथ पीठ पलटने वाला दरबारी भी कह सकते थे। इंदिरा गांधी के शासनकाल में वह समाजवादी नीतियों के हिमायती थे तो राजीव के कार्यकाल में उन्हें 21 वीं सदी के लिए भारत को तैयार करने के लिए निजीकरण या विनिवेश की बात करने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई। जाहिर है कि बारू राव के आलोचक नहीं हमदर्द-प्रशंसक हैं इसीलिए वह इन मुद्दों को ज़्यादा तवोज्जों नहीं देते।

हमारी समझ में चाहे-अनचाहे ही सही संजय बारू ने और एक महत्वपूर्ण बात से पर्दा उठा दिया है। उन्होंने इस बात को रेखांकित किया है कि राव इसलिए दूसरे प्रतिद्वंद्वियों को प्रतिद्वंद्वी बन सके कि उन्हें दक्षिण भारत से चुनकर आए लोकसभा के



सांसदों में 85 का अडिग समर्थन प्राप्त था। इतनी बड़ी संख्या में किसी दूसरे दावेदार के पास सांसद नहीं थे।

चुनावों का दूसरा चरण जो राजीव की हत्या के बाद संपन्न हुआ था उत्तर भारत में कांग्रेस के पक्ष में नतीजों को प्रभावित नहीं कर सका था। इसके अलावा उत्तरी राज्यों से जो कांग्रेसी सांसद चुनकर आए थे वह जाति और क्षेत्रीयता अथवा साम्प्रदायिकता के आधार पर बुरी तरह बंटे हुए थे। संक्षेप में चुनावी नतीजों के बाद यह बात साफ थी कि उत्तरी भारत के किसी कांग्रेसी नेता को दक्षिण भारत के नेता अपने ऊपर थोपा जाना आसानी से स्वीकार नहीं करेंगे। सोनिया गांधी पहले ही शोक-संतप्त थी और इस समय राजनीति में प्रवेश की बात सोच तक नहीं सकती थी। उनके विदेशी मूल का प्रश्न भी मार्ग में बाधक बन सकता था। जो लोग अपने को प्रधानमंत्री पद के योग्य समझ सकते थे। उदाहरण के तौर पर प्रणव मुखर्जी या शरद पवार उन सांसदों के समर्थन के मामले में राव का मुकाबला नहीं कर सकते थे। यहां इस बात को याद रखना हमारे लिए उपयोगी होगा कि इसके पहले भी दक्षिण भारत से आने वाले कांग्रेसियों के मन में इस बात को लेकर असंतोष था कि दक्षिण के किसी कद्दावर नेता को क्यों प्रधानमंत्री योग्य नहीं समझा जाता?

जब श्रीमती गांधी ने कांग्रेस को दो फाड़ किया था तब निजलिंगप्पा को सिखस्त दी गई थी और कामराज योजना का इस्तेमाल मोरारजी की छुट्टी करने के बाद खुद कामराज को खारिज करने के लिए किया गया था। जनता पार्टी के कार्यकाल में भी एन्टी रामाराव का नाम प्रधानमंत्री होने लायक व्यक्ति के रूप में भले ही बारंबार किया जाता रहा उनके जीवनकाल में यह बात आगे बढ़ नहीं पाई। इस बार राव यह अच्छी तरह समझते थे कि यदि दलगत एकता को बरकरार रख वह दक्षिण भारतीय स्वाभिमान और सांस्कृतिक गौरव का आह्वान करने में सफल हुए तो उन्हें प्रधानमंत्री बनने से कोई रोक नहीं सकता। तत्कालीन राष्ट्रपति वेंकट रमन भी तमिलनाडु से थे और उस वक्त यह बात साफ नहीं थी कि नया प्रधानमंत्री अपना

कार्यकाल पूरा कर भी पाएगा या नहीं। अतः राष्ट्रपति के अलावा उपराष्ट्रपति भी इस पद के लिए अपना बचा-खुचा राजनीतिक दांव पर लगाने को उत्साहित नहीं थे। शरद पवार भी व्यवहारिक यथार्थवादी व्यक्ति है।

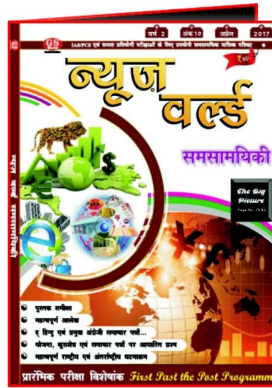
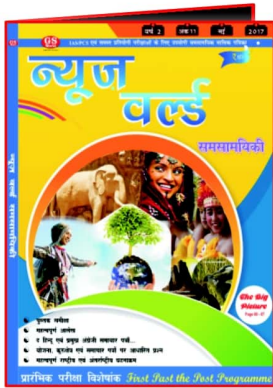
जब उन्हें यह बात नजर आने लगी कि उनके साथ महाराष्ट्र के कुल सांसदों की संख्या राव के साथ खड़े सांसदों की कुल संख्या का आधा भी नहीं तो उन्होंने अपनी दावेदारी वापस लेने को ही अकलमंदी समझा। बरू इस बात की ओर भी ध्यान दिलाते हैं कि स्वयं राव ने पवार को यह बात समझाई कि उस वक्त उनकी उम्र 70 से ज्यादा हो चुकी थी और शरद पवार अपने जीवन के 52 वें 53 वें वर्ष में थे वह कुछ समय प्रतिक्षा कर सकते थे जबकि राव के लिए यह कुछ कर दिखाने का अंतिम अवसर था। यहां इन सब बातों में ज्यादा उलझे बिना जिस महत्वपूर्ण बात की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया जाना जरूरी है वह यही है कि 1991 में भारत की राजनीति में राजनैतिक गुरुत्वाकर्षण का केन्द्र उत्तर से दक्षिण की ओर स्थानांतरित हो गया। इसके बाद से जहां तक कांग्रेस का सवाल है उत्तर भारतीय सांसदों के समर्थन से किसी उत्तर भारतीय प्रधानमंत्री के 'आधीन' सरकार बनाना बहुत दूर का सपना ही रह गया। बाद में एनडीए की हार के बाद मनमोहन सिंह प्रधानमंत्री बने तो पर उन्हें सोनिया के इशारे पर कुर्सी पर बिठाया गया था जब राव प्रधानमंत्री बने तब वह किसी भी सदन के सदस्य नहीं थे कांग्रेस ने उन्हें अपने लोकसभा सदस्यों की निर्वाचन सूची में शामिल ही नहीं किया था पर मनमोहन सिंह तो उन से भी खस्ता हाल थे वह लोकसभा का चुनाव लड़कर हार चुके थे।

जो बात महत्वपूर्ण है वह यह कि एक बार प्रधानमंत्री बनने के बाद राव की हमदर्दी दक्षिण की ओर लगातार बनी रही। इसका सबसे अच्छा उदाहरण वह प्रसंग है जब उच्च न्यायालय के एक मुख्य न्यायधीश का महाभियोग वाला मामला संसद के सामने आया। इस व्यक्ति के दक्षिण भारतीय होने के कारण ही दक्षिण भारतीय सांसदों के अनुपस्थिति रहने के कारण यह मामला आगे नहीं बढ़ सका। ऐसा माना जाता है कि इसमें राव की प्रेरणा

ही काम कर रही थी। अंतिम अध्याय से पहले दिसम्बर के महीने का उपशीर्षक विश्व है पर इसमें अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम की अपेक्षा नरसिंह राव की विदेश नीति का ही विस्तार से अवलोकन किया गया है। हमें यह बात इसलिए अटपटी लगती है कि भले ही राव ने पूरब की ओर देखों लुक ईस्ट वाली नीति का सूत्रपात किया उनके पहले भी गुटनिरपेक्षता की नीति को अलविदा कहा जा चुका था और पड़ोसियों के साथ संबंधों को सामान्य और मधुर बनाने का काम गुजराल ने बड़े जोर-शोर से प्रचार के साथ शुरू कर दिया था। बरू का यह कहना बहुत तर्कसंगत नहीं लगता कि प्रधानमंत्री बनने के बाद मणि दीक्षित से विशेषज्ञ सलाहकारों की मदद से राव बहुत जल्द ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बारीकियों को समझने लग गए थे। राव स्वयं प्रधानमंत्री बनने के पहले विदेशमंत्री रह चुके थे। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से कतई अपरिचित नहीं थे। आखिर में बरू राव को बीच के रास्ते का पथिक बतलाते हैं जो शायद उस वक्त, इस वक्त भी, भारत के लिए आंतरिक और विदेशनीति के संदर्भ में सबसे बेहतर विकल्प है। इस समीक्षक को यह निष्कर्ष अतिसरलीकृत लगता है आखिर राव ही वह महापुरुष थे जिन्होंने एक बार यह दार्शनिक घोषण की थी कि कोई फैसला ना करना भी आखिर एक फैसला होता है! अपने अनिश्चय को छुपाने के लिए इससे बेहतर और भला क्या हो सकता है?

कुल मिलाकर यह किताब दिलचस्प और विचारोत्तेजक है उन पाठकों के लिए खासकर उपयोगी है जो बहुत सारी इधर-उधर बिखरी उस सामग्री का इस्तेमाल नहीं कर सकते जो आसानी से सुलभ नहीं। यह सच है कि खुद राव की पार्टी कांग्रेस ने निरंतर उनका अवमूल्यन और तिरस्कार किया उनके जीवनकाल में भी और उनके देहांत के बाद भी। मनमोहन सिंह के बारे में बार-बार यह बात दोहराई जाती है कि इतिहास उनके साथ न्याय करेगा। संजय बरू की इस किताब के बारे में निसंकोच यह कहा जा सकता है कि नरसिंह राव के साथ सोनिया-राहुल की कांग्रेस ने जो अन्याय किया है उसको दूर करने की कोशिश शुरू हो गई। □

Our Monthly Magazines



Our Successful Aspirants...

AIR 33



Ganga Singh
(Roll No. 0078265)

IAS-2016 Batch

Congratulations to our selected students of Hindi Medium Batch....



Hemant Sati
(Roll No. 0441143)

AIR 88



धवल जायसवाल आशुतोष कु.राय प्रेमसुख डेलु अजीत वर्मा हर्ष इन्दोरा विजेंद्र सिंह मंजू मीणा सुमन सोनकर प्रदीप कुमार विकास कुमार प्रधुभन



ऋषभ सिन्हा गरिमा त्रिपाठी नविका गुप्ता सीमा कुमारी मंगलेश दुबे हिमांशु त्रिपाठी विनेश फुलडिया रोशन कुमार अमित सिंह जय प्रकाश



प्रशान्त तिवारी प्रशान्त सिंह अरविन्द द्विवेदी अंकित श्रीवास्तव चन्द्रशेखर सिंह वरखा सिंह शाश्वत आनंद सिंह अनामिका सिंह

And many more...

DELHI CENTRE

705, 2nd Floor, Main Road,
Mukherjee Nagar, Delhi-110009
Ph.: 011-27658013, 7042772062/63

ALLAHABAD CENTRE

GS World House, Stainly Road,
Near Traffic Choraha, Allahabad
Ph.: 0532-2266079, 8726027579

LUCKNOW CENTRE

A-7, Sector-J , Puraniya Chauraha
Aliganj, Lucknow
Ph. : 0522-4003197, 8756450894

JAIPUR CENTRE

Hindaun Heights 57, Shri Gopal Ngr,
Near Mahesh Ngr Police Station,
Jaipur Ph. : 9610577789, 9680023570



<http://www.gsworldias.com>



<http://www.facebook.com/gsworld1>



gsworldias@gmail.com